



श्रीः-

# विवाहवृन्दावनम् ।

औदीच्यवंशावतंसपण्डितवरश्रीकेश-  
वार्कदैवज्ञविरचितम् ।

सकलागमाचार्यवर्यकेशवसांवत्सरात्मजश्रीगणेशदै-  
वज्ञविरचितया विवाहवृन्दावनदीपिकाख्यया  
व्याख्यया समन्वितम् ।



तदिदम्

ज्येष्ठाराम मुकुन्दजी,-  
लालामेहरचन्द्र लक्ष्मणदास  
इत्येताभ्यां

San 2/83

KEG मुम्बय्याम्

“ श्रीवेङ्कटेश्वर ” मुद्रणालये  
मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ।

शके १८१८ संवत् १९५३.

श्रीः ।

# अथ विवाहवृन्दावनस्य-

अनुक्रमणिका ।



विषयाः

श्लोकाः पृष्ठाकाः

## . नक्षत्रशुद्धिर्नामाऽध्यायः ॥ १ ॥

|  |           |
|--|-----------|
| श्रीलक्ष्मीनारायणयोर्विवाहात्मकं मङ्गलाचरणम् | १-६       |
| अस्य ग्रन्थस्य आर्षमूलत्वेन प्रामाण्यम्      | ... २-८   |
| विवाहवृन्दावननाम्नोऽन्वर्थता                 | ... ॥-११  |
| ज्योतिःशास्त्रप्रयोजनकथनम्                   | ... ॥-१०  |
| एकादशानक्षत्राणामद्वयको गणः                  | ... ३-१३  |
| दैवपुरुषकारयोर्वलावलत्वम्                    | ... ॥-१४  |
| शुभकालवलस्य श्रेष्ठता                        | ... ॥-२०  |
| विवाहे पूर्वाफल्युनीपुष्ययोर्निषेधत्वे हेतुः | ... ४-२०  |
| देशपरत्वेन विवाहमासनिर्णयः                   | ... ५-२१  |
| नक्षत्रवेधदोषे पञ्चशलाकाचक्रकथनम्            | ... ६-२३  |
| वेधे फलदौष्ट्यम्                             | ... ७-२४  |
| विवाहादन्यत्र सप्तशलाकाचक्रकथनम्             | ... ८-११  |
| पादवेधतद्दोषकथने च                           | ... ९-२५  |
| भूकपादिदोषांतरकथनम्                          | ... १०-२६ |
| लतादोषः                                      | ... ११-२७ |
| पृष्ठाग्रलत्तयोरल्पाधिकदोषौ                  | ... १२-२८ |

# अनुक्रमणिका ।



|  |     |     |       |
|--|-----|-----|-------|
| लक्षाफलकथनम्                                 | ... | ... | ...   |
| एकार्गलं खार्जूरिकं चक्रम्                   | ... | ... | १४-३० |
| शोषिणीलक्षणम्                                | ... | ... | १५-३१ |
| एकार्गलाविषये परेषां मतम्                    | ... | ... | १६-३१ |
| क्रूरपङ्मान्तरितनक्षत्रविशेषोक्तिः           | ... | ... | १७-३२ |
| पादवेधे दोषकथनं दृष्टान्तश्च                 | ... | ... | १८-३३ |
| अथ चण्डायुधदोषो ग्रहणदुष्टकालश्च             | ... | ... | २०-३४ |
| ग्रहणनक्षत्रदोषकालः                          | ... | ... | २२-३५ |
| उत्पातदोषेऽपि नक्षत्रशुद्धिप्रकारः पातदोषश्च | ... | ... | २३-३६ |
| पातदोषसम्भवकालः                              | ... | ... | २४-३७ |
| नक्षत्रशुद्धेः प्राशस्त्यम्                  | ... | ... | २५-३८ |

## अथ कालमीमांसाऽध्यायः ॥ २ ॥

|                                    |     |     |      |
|------------------------------------|-----|-----|------|
| राशिघटितमीमांसानिरूपणम्            | ... | ... | १-३९ |
| चन्द्रसशयोर्मेलके हेतुः            | ... | ... | २-४० |
| राशिवशादेवायनप्रमाणम्              | ... | ... | ३-४१ |
| दिनर्क्षालाभे युक्त्यन्तरकथनम्     | ... | ... | ४-४२ |
| स्थूलफले एव मुनीनामनुसरणे हेतुः    | ... | ... | ५-४३ |
| स्थूलानुसारेणैव सूक्ष्मताया ग्रहणं | ... | ... | ६-४३ |
| कालसूक्ष्मताया अनवस्थानम्          | ... | ... | ७-४४ |
| सूक्ष्मकालाकलनाशक्ये हेतुः         | ... | ... | ८-४५ |
| स्थूलसूक्ष्मकालयोः सभाधानम्        | ... | ... | ९-४६ |

## अथ मेलकाऽध्यायः ॥ ३ ॥

|                              |     |     |      |
|------------------------------|-----|-----|------|
| आदौ सोपपत्तिकं राशिमेलककथनम् | ... | ... | १-४८ |
|------------------------------|-----|-----|------|

## ( ४ ) विवाहवृन्दावनस्य-

|  |     |     |     |       |
|--|-----|-----|-----|-------|
| अस्यापवादस्तारामैत्रञ्च                  | ... | ... | ... | २-४९  |
| वधूवरयो राशिनक्षत्रैक्ये विशेषः          | ... | ... | ... | ३-५०  |
| नाडीदोषे मतान्तरकथनम्                    | ... | ... | ... | ४-५१  |
| नाडीदोषाभावे दृष्टान्तश्चरणैकत्वे दोषश्च | ... | ... | ... | ५-५१  |
| अथ नाडीवैधः                              | ... | ... | ... | ६-५२  |
| तस्य मतान्तरेण दूषणम्                    | ... | ... | ... | ७-५३  |
| अथ योनिमैत्रकथनम्                        | ... | ... | ... | ८-५४  |
| गणमैत्रीकथनम्                            | ... | ... | ... | ९-५५  |
| स्वाभाविकं राशिवैरं तथा वश्यैमत्रं च     | ... | ... | ... | १०-५६ |
| राशिमेत्रीकथनम्                          | ... | ... | ... | ११-५८ |
| तस्यापवादः प्रत्युत्तरं च                | ... | ... | ... | १२-५८ |
| सिद्धान्तरूपागतिः                        | ... | ... | ... | १४-५९ |
| स्वाभाविकग्रहमैत्रस्यापिन्यूनाधिकता      | ... | ... | ... | १५-६० |
| ग्रहाणां ब्राह्मणादिवर्णाः               | ... | ... | ... | १६-६१ |
| जातकोक्तं ग्रहमैत्रम्                    | ... | ... | ... | १७-६२ |
| ग्रहमैत्रे वराहमिहिरमतम्                 | ... | ... | ... | १८-६३ |
| राशिसंख्ये नवांशाकथने हेतुः              | ... | ... | ... | २२-६७ |
| नवांशसंख्यं न मन्यते तेषामनिष्टम्        | ... | ... | ... | २३-६८ |

अथ नवांशचिन्ताऽध्यायः ॥ ४ ॥

|                                  |     |     |     |      |
|----------------------------------|-----|-----|-----|------|
| करग्रहे नवांशविषये यवनाचार्यमतम् | ... | ... | ... | १-६९ |
| यवनोदितमैत्रीग्रहणे हेतुर्दोषश्च | ... | ... | ... | २-७१ |
| तत्रोत्तरप्रत्युत्तराणि          | ... | ... | ... | ४-७३ |
| पारिषोपात्फलितः सिद्धान्तः       | ... | ... | ... | ६-७५ |

# अनुक्रमणिका ।



|   |     |       |
|---|-----|-------|
| समस्तके यवनसत्यशास्त्रयोर्मेलनम्...     | ... | ...   |
| राशिनवांशानां शुभाशुभविचारः ...         | ... | ...   |
| अथ उदयास्तशुद्धिः ...                   | ... | ९-७९  |
| लवलग्नयोर्गोपकथनम् ...                  | ... | १०-८० |
| उक्तस्यार्थस्य युक्त्यां दृढीकरणम् ...  | ... | ११-८१ |
| अंशपतिविलोकनेन दृष्टा निष्टफलं ...      | ... | १२-८२ |
| उभयतो दृष्टिविषये दृष्टान्तः ....       | ... | १३-८३ |
| अत्रैव परमतकथनम् ...                    | ... | १४-८४ |
| अथ जन्मराशिलग्न्यामंशशुद्धिः ...        | ... | १५-८४ |
| अष्टमलग्नदोषस्तदपवादश्च ...             | ... | १६-८५ |
| चरत्रयसंनिपातदोषकथनम् ...               | ... | १७-८६ |
| चतुर्थद्वादशलग्नदोषस्तदपवादश्च ...      | ... | १८-८७ |
| जन्मगृहवशेन सापवादं नवांशदोषान्तरम् ... | ... | १९-८८ |
| जन्मकालिकग्रहवशेन दोषान्तरम् ...        | ... | २०-८९ |

## अथ लग्नचलाऽध्यायः ॥ ५ ॥

|   |     |       |
|---|-----|-------|
| आदौ लग्नाद्रवेः शुभाशुभस्थानानि ...           | ... | १-९०  |
| लग्नाच्छशिनः शुभाशुभस्थानानि ...              | ... | २-९१  |
| भौमस्थशुभाशुभस्थानानि ...                     | ... | ३-९२  |
| बुधगुरुशुक्राणां शुभाशुभस्थानानि....          | ... | ४-९३  |
| कर्तरीजामित्रयोः फलकथनम् ...                  | ... | ७-९५  |
| गुरुशुक्रयोर्बाल्यादिदोषौ ...                 | ... | ८-९६  |
| तयोर्बाल्यवार्धक्ये दिनप्रमाणम् ...           | ... | ९-९६  |
| विवाहे क्रेपां ग्रहाणां बलावश्यकत्वं तत्कथनम् | ... | १०-९८ |

# ( ६ ) विवाहवृन्दावनस्य-

द्वादशे स्थाने बुधगुरुशुक्रां स्थितौ मतान्तरम् ११-९८

अथ चन्द्रबलाऽध्यायः ॥ ६ ॥

|  |        |
|--|--------|
| वरस्य चन्द्रबलापवादः ... ..                      | १-१००  |
| चन्द्रबलाभावे अनिष्टफलकथनमपवादश्च...             | २-१०१  |
| चन्द्रे हीनबले सति विशेषः ... ..                 | ४-१०२  |
| अनिष्टप्रसङ्गे पूर्वमतदूषणम् ... ..              | ५-१०३  |
| युक्त्यन्तरेण पुनर्दूषणम् ... ..                 | ६-१०४  |
| वरस्य चन्द्रबलेऽन्यग्रहबलेऽपि च सिद्धान्तः ७-१०५ |        |
| मतान्तरदोषे उपन्यासः ... ..                      | ९-१०६  |
| अथ कृष्णपक्षे चन्द्रदुष्टता तत्र सिद्धान्तश्च    | १०-१०७ |

अथ राहुसत्ताध्यायः ॥ ७ ॥

|  |        |
|--|--------|
| आदौ राहोरभावे वराहमिहिरमतम् ... ..           | १-१०९  |
| राहोरस्तित्वे प्रमाणांतरम् ... ..            | २-१११  |
| राहोः पातविवादे समाधानम् ... ..              | ३-११२  |
| राहोश्चन्द्रग्रसने हेतुः ... ..              | ४-११३  |
| प्रतिपर्वणि ग्रहणासंभवकारणम् ... ..          | ५-११४  |
| संहिताजातकयोर्मतम् ... ..                    | ६-११५  |
| गौमादिपातानां ग्रहत्वं नास्ति तत्र हेतुः ... | ७-११६  |
| राहोः स्थानवशेन केतुस्थितिः ... ..           | ८-११६  |
| ग्रहपदे राहोरस्यापने हेतुः ... ..            | ९-११७  |
| गोलयुक्त्यापि राहोरभावकथनम् ... ..           | १०-११८ |
| अन्यग्रहाणां पातविषये विशेषः ... ..          | ११-१२० |
| असंपातः स एव राहुरित्यर्थे प्रमाणान्तरम्...  | १२-१२१ |

|   |        |
|---|--------|
| सूक्ष्मदृष्ट्या राहोरस्तित्वे युक्तद्वन्द्वम् ... | १३-१२१ |
| राहुपातस्य दिनाधिपत्यं नास्ति तत्र हेतुः...       | १४-१२२ |
| राहोर्गतिसद्भावे प्रमाणम् ...                     | १५-१२३ |
| केतोरपि ग्रहत्वसंस्थापनम् ...                     | १६-१२४ |
| ग्रहणे तमः प्रत्यक्षं दृश्यते तत्र भोजराजमतम्...  | १७-१२५ |
| राहोः सिद्ध्यसिद्धौ विशेषः ...                    | १८-१२६ |
| सिद्धान्तपक्षे पुराणगणितादीनां मतम् ...           | १९-१२७ |
| देवापराह्लापररात्रिकालनियमः ...                   | २०-१२८ |
| प्राकृपश्चिमकपालनिरूपणम् ...                      | २१-१२९ |
| राहुसद्भावे प्रमाणान्तरम् ...                     | २२-१३० |
| राहोर्ग्रहत्वे भङ्गच्यन्तरेण दृढता ...            | २३-१३१ |

अथ पङ्क्त्याध्यायः ॥ ८ ॥

|  |        |
|--|--------|
| आदौ तन्वादिभावानयनम् ...                     | १-१३२  |
| लग्नादिशोधनप्रकारः ...                       | २-१३३  |
| ग्रहफलानां भावकल्पनवशात्तारतम्यम् ...        | ३-१३३  |
| भावस्वाभाविकयोर्विभेदे निर्णयः ...           | ४-१३४  |
| तत्र सयुक्तिकं द्वितीयोदाहरणम् ...           | ५-१३५  |
| संक्रातिज्ञानमात्रेण सूर्यलग्नांशज्ञानम् ... | ६-१३६  |
| सूर्यलग्नांशज्ञानाभ्यां कालज्ञानम् ...       | ७-१३६  |
| लग्नात्कालहोराकथनम् ...                      | ८-१३७  |
| पापग्रहहोराभङ्गः ....                        | ९-१३८  |
| कालहोराकथनानंतरं वारप्रवृत्तिः ...           | १०-१३९ |
| होरानयनप्रकारः ...                           | ११-१४१ |

# ( ८ ) विवाहवृन्दावनस्य-

|  |        |
|--|--------|
| प्रसङ्गे नान्यमहादोषकथनम् ... ..           | १२-१४१ |
| लग्नेष्वर्गशुद्धिः ... ..                  | १३-१४३ |
| सौम्यपापवर्गज्ञानाय राश्यधिपकथनम् ... ..   | १४-१४४ |
| रविचन्द्रहोराद्रेकाणादिकथनम् ... ..        | १५-१४५ |
| तिथ्यादीनां संधिकालः ... ..                | १६-१४६ |
| भौमादीनामपि संक्रमणकालः ... ..             | १७-१४७ |
| ऋत्वानयनप्रकारः ... ..                     | १८-१४८ |
| ऋत्वादीनां सन्धिकालः ... ..                | १९-१४९ |
| ऋत्वादीनां सन्धिफलकथनम् ... ..             | २०-१५० |
| शुद्धादियोगसंधीनां विशेषः ... ..           | २१-१५० |
| नक्षत्रादिसन्धिषु त्याज्यनाड्यः ... ..     | २२-१५१ |
| अमाविषयकत्याज्यादिनानि ... ..              | २३-१५२ |
| द्वितीयानिपेधे मतान्तरम् ... ..            | २४-१५३ |
| जन्ममासादीनां निपेधः ... ..                | २५-१५४ |
| एषां गुणदोषाणां विवेककर्तुः प्रशंसा ... .. | २६-१५५ |

अथ गोधूलिकाध्यायः ॥ ९ ॥

|   |       |
|---|-------|
| गोधूलिकलग्नकालः ... ..                      | १-१५६ |
| गोधूलिकलग्नेऽधिकारिणः ... ..                | २-१५७ |
| चन्द्रेऽष्टमे विशेष ... ..                  | ३-१५८ |
| गोधूलिके नवांशादीनामभावेऽपि दोषाभावः ... .. | ४-१५९ |
| गोधूलिके यद्विलोक्यं तत् ... ..             | ५-१६० |
| विलोक्यस्य परिमाणम् ... ..                  | ६-१६१ |



अथ मासगोचरविचारध्यायः ॥ १० ॥

|   |     |     |       |
|---|-----|-----|-------|
| आदौ सौरचान्द्रमासयोर्विचारः             | ... | ... | १-१६४ |
| सौरचान्द्रमासयोर्विरोधे सयुक्तिकनिर्णयः | ... | ... | २-१६६ |
| तत्र सिद्धान्तः                         | ... | ... | ३-१६७ |
| सौरचान्द्रमासयोर्वलावलत्वम्             | ... | ... | ४-१६८ |
| वधूवरयोर्गोचरग्रहबलविचारः               | ... | ... | ५-१६९ |
| तस्योदाहरणम्                            | ... | ... | ६-१७० |

अथ ग्रहयोगाध्यायः ॥ ११ ॥

|  |     |     |        |
|--|-----|-----|--------|
| द्वादशभावचक्रस्य पूर्वोत्तरार्धे द्विदलत्वम् | ... | ... | १-१७१  |
| ध्वजयोगकथनं तत्फलं च                         | ... | ... | २-१७२  |
| वापीयोगकथनम्                                 | ... | ... | ३-१७३  |
| शंखयोगलक्षणम्                                | ... | ... | ४-१७३  |
| श्रीवत्सयोगः                                 | ... | ... | ५-१७४  |
| कार्मुकानन्दयोगौ                             | ... | ... | ६-१७५  |
| कुठारकूर्मयोगौ                               | ... | ... | ८-१७६  |
| अर्धचन्द्रयोगकथनम्                           | ... | ... | १०-१७७ |
| मुसलगजयोगौ                                   | ... | ... | ११-१७८ |

अथ ग्रहाणां भावकुण्डलिकाध्यायः ॥ १२ ॥

|  |     |       |       |
|--|-----|-------|-------|
| आदौ लग्नस्थग्रहाणां पृथक्त्वेन फलकथनम् | ... | ...   | १-१७९ |
| धनभावस्थ ग्रहाणां फलम्                 | ... | ...   | २-१८० |
| तृतीयस्थानस्थग्रहाणां फलम्             | ... | ...   | ३-१८१ |
| चतुर्थपंचमस्थानस्थग्रहाणां फलम्        | ... | ...   | ४-१८२ |
| षष्ठस्थानाद्वादशस्थानावधिस्थितग्रहाणां |     |       |       |
| पृथक्त्वेन फलकथनम्                     | ... | ..... | ६-१८३ |

## ( १० ) विवाहवृन्दावनस्य—

अथ ग्रहयोगादिवलाबलाध्यायः ॥ १३ ॥

|  |      |        |
|--|------|--------|
| आदौ भावफलोपसंहरादिकथनम् ...                  | ...  | १-१९०  |
| सप्तमदशमचन्द्रस्य विशेषः...                  | ...  | २-१९१  |
| सप्त शुभयोगकथनम् ...                         | ...  | ३-१९२  |
| एषां योगानां जन्मयात्रास्वपि श्रेष्ठ्यम् ... | ...  | ४-१९३  |
| अथापरं शुभयोगपंचकम् ...                      | .... | ५-१९४  |
| अन्यदुष्टयोगद्वयम् ...                       | ...  | ६-१९४  |
| ब्रह्मविशेषेण फलवशात्फलान्तराणि ...          | ...  | ७-१९६  |
| पत्यादीनामशुभशुभप्राप्तिहेतुयोगाः ...        | ...  | ८-१९७  |
| अनपत्यतादियोगाः ...                          | ...  | ९-१९७  |
| शास्त्रविरुद्धपद्धतेर्निमूलत्वादुपहासः...    | ...  | १०-१९८ |
| जामित्रदोषस्य भंगकथनम् ...                   | ...  | ११-१९९ |
| परिपूर्णजामित्रे अभङ्गत्वम् ...              | ...  | १२-२०० |
| अथैषां योगानां विचारगम्यत्वम् ...            | ...  | १३-२०० |
| विचारकर्तुर्देवज्ञस्य पूज्यत्वकथनम् ...      | ...  | १४-२०१ |

अथ मिश्राध्यायः ॥ १४ ॥

|   |     |        |
|---|-----|--------|
| स्त्रीपुंसयोः सामुद्रिकलक्षणे कारणम् ...  | ... | १-२०२  |
| स्वभादि फलमार्गकथनम् ...                  | ... | २-२०३  |
| फलमार्गानामनेकत्वे तत्समाधानम् ...        | ... | ३-२०५  |
| प्राक्कर्मैव फलतीति यन्मतं तस्य निरासः... | ... | ४-२०६  |
| अथ श्लोकसप्तकेन प्रकृतस्वस्थारिष्टकथनम्   | ... | ५-२०७  |
| छायालक्षणेनारिष्टज्ञानम् ...              | ... | १२-२१२ |

|  |        |
|--|--------|
| श्लोकत्रयेण पुरुषलक्षणकथनम् ...                        | १३-२१२ |
| श्लोकत्रयेण वधूलक्षणानि ...                            | १६-२१४ |
| श्लोकषट्केन स्त्रीपुंसयोर्हस्तचरणगतरेखालक्षणानि १९-२१७ |        |
| करे चरणे वा राजचिह्नलक्षणम्....                        | २५-२२४ |
| स्त्रीपुंसयोर्मुख्यलक्षणम् ...                         | २६-२२२ |
| अथ निमित्तानि तत्र वरणकाले पक्षिचेष्टितम् २७-२२३       |        |
| शुभश्चेष्टितम् ...                                     | २८-२२३ |
| उपश्रुतिशकुनकथनम् ...                                  | २९-२२४ |
| विवाहनक्षत्राणि कुलधर्मानतिक्रमश्च ...                 | ३०-२२५ |
| वेदिकानिर्माणप्रकारः ...                               | ३१-२२५ |
| इन्द्राणी पुजनादिकम् ...                               | ३२-२२६ |

अथ वधूवरप्रश्नाध्यायः ॥ १५ ॥

|   |       |
|---|-------|
| तत्रादौ श्लोकद्वयेन वरस्य वधूप्राप्त्यर्थकः प्रश्नः १-२२७ |       |
| कान्याया वरोपलब्धिप्रश्नः ...                             | ३-२२९ |
| श्लोकद्वयेन वधूवरप्रश्नकाले शुभाशुभयोगकथनम् ४-२३०         |       |
| विवाहे दलनकंडनादिशुभाशुभकालः ...                          | ६-२३२ |
| अस्य विवाहपटलस्य पूर्वभ्योपि वैशिष्ट्यम् ...              | ७-२३३ |

अथ स्ववंशवर्णनाध्यायः ॥ १६ ॥

|                                     |       |
|-------------------------------------|-------|
| स्ववंशवर्णनपूर्वकग्रन्थालङ्कारः ... | १-२३४ |
| जनार्दनसूनोर्वर्णनम् ...            | २-२३५ |
| ग्रन्थकरणे हेतुः ...                | ३-२३६ |
| ज्ञातृणाम् प्रार्थना ...            | ४-२३७ |

# ( १२ ) विवाहवृन्दावनस्यानुक्रमणिका ।

अथ लग्नशुद्ध्याध्यायः ॥ १७ ॥

|   |        |
|---|--------|
| आदौ विवाहे विहितनक्षत्रादिकथनम् ... ..      | १-२३८  |
| श्लोकत्रयेण नक्षत्रशुद्धिकथनम् ... ..       | २-२३९  |
| लग्नशुद्धिकथनम् ... ..                      | ५-२४१  |
| नवांशशुद्ध्यादिकथनम् ... ..                 | ६-२४३  |
| अष्टमलग्नादिदोषाः ... ..                    | ७-२४४  |
| श्लोकयुग्मेन पलभाचरोदयादिकथनम् ... ..       | ८-२४५  |
| संक्रातेरर्कज्ञानकथनम् ... ..               | १०-२४६ |
| इष्टकालज्ञानम् ... ..                       | ११-२४७ |
| इष्टकालालग्नज्ञानम् ... ..                  | १२-२४७ |
| पङ्कगर्गहोरादिकथनम् ... ..                  | १३-२४८ |
| होरायाः प्रकारान्तरार्थं देशान्तरचरे ... .. | १४-२४९ |
| प्रकारान्तरेण कालहोराकथनम् ... ..           | १५-२५० |
| पङ्कगर्गकथनम् ... ..                        | १६-२५१ |
| ग्रन्थसमाप्त्यलङ्कारः ... ..                | १७-२५१ |

इति विवाहवृन्दावनस्यानुक्रमणिका समाप्ता ॥

पुस्तक मिलनेका ठिकाना—

ज्येष्ठाराम मुकुन्दजी, } { मिहिरचन्द लक्ष्मणदास,  
कालफादेवीरोड-मुंबई. } { संस्कृतपुस्तकालय-लाहौर.

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ

## विवाहवृंदावनम् ।

विवाहदीपिका व्याख्यासमेतम् ।

तीर्थानामधिपः कुभृच्छित्तपदोऽसंत्यक्तवेलास्थिति-  
र्यत्पर्याप्तकलद्विजाधिपसमीक्षातोरुमुत्पूरभृत् ॥  
लक्ष्मीशोखिलदानवारिसततप्रस्निग्धसद्भाक्षिति-  
घोषध्वस्तमलो जयत्युरुकृपासिंधुर्गुरुः केशवः ॥ १ ॥  
अर्थं चतुष्टयवाची ॥ तत्र प्रथमं गुरुपक्षे केशवो गुरुर्जय-  
ति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । गृणात्युपदिशति शास्त्राणी-  
ति गुरुः । तमेव सर्वोत्कर्षं द्योतयति तीर्थानामधि-  
प इत्यादिविशेषणैः । ' तीर्थो ध्वरे गुरौ मार्गे ' इत्य-  
भिधानात् । तीर्थानां गुरूणामधिपः महागुरुरित्यर्थः ।  
तल्लक्षणमाह स्मृतिः " पिता पुत्रमुत्पाद्य संस्कृत्य  
वेदान्वेदार्थाश्च ग्राहयित्वा वृत्तिं कल्पयति स महागुरु-  
र्भवति " इति । यद्वा तीर्थानां गंगादीनामधिपः " सर्वतीर्थ-  
मयो गुरुः " इति स्मृतेः । कुभृच्छित्तपदः कुभृतो राजाम-  
स्तैः श्रितं सेवितं पदं यस्यासौ तथा । असंत्यक्तवेलास्थि-  
तिः न संत्यक्ता वेलासु पूर्वाह्णादिकालेषु स्थितिर्विहि-  
ताचारो येनासौ । तथा यन्पर्याप्तकलद्विजाधिपसमीक्षा-

# ( १२ ) विवाहवृन्दावनस्यानुक्रमणिका ।

अथ लग्नशुद्ध्याध्यायः ॥ १७ ॥

|   |        |
|---|--------|
| आदौ विवाहे विहितनक्षत्रादिकथनम् ... ..      | १-२३८  |
| श्लोकत्रयेण नक्षत्रशुद्धिकथनम् ... ..       | २-२३९  |
| लग्नशुद्धिकथनम् ... ..                      | ५-२४१  |
| नवांशशुद्ध्यादिकथनम् ... ..                 | ६-२४३  |
| अष्टमलग्नादिदोषाः ... ..                    | ७-२४४  |
| श्लोकयुग्मेन पलभाचरोदयादिकथनम् ... ..       | ८-२४५  |
| संक्रातेरर्कज्ञानकथनम् ... ..               | १०-२४६ |
| इष्टकालज्ञानम् ... ..                       | ११-२४७ |
| इष्टकालालग्नज्ञानम् ... ..                  | १२-२४७ |
| पङ्गुर्गहोरादिकथनम् ... ..                  | १३-२४८ |
| होरायाः प्रकारान्तरार्थं देशान्तरचरे ... .. | १४-२४९ |
| प्रकारान्तरेण कालहोराकथनम् ... ..           | १५-२५० |
| पङ्गुर्गकथनम् ... ..                        | १६-२५१ |
| ग्रन्थसमाप्त्यलङ्कारः ... ..                | १७-२५१ |

इति विवाहवृन्दावनस्यानुक्रमणिका समाप्ता ॥

पुस्तक मिलनेका ठिकाना—

ज्येष्ठाराम मुकुन्दजी, } { मिहिरचन्द लक्ष्मणदास,  
 माटफादेवीरोड-मुंबई. } { संस्कृतपुस्तकालय-लाहौर.

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ

## विवाहवृंदावनम् ।

विवाहदीपिका व्याख्यासमेतम् ।

तीर्थानामधिपः कुम्भच्छित्तपदोऽसंत्यक्तवेलास्थिति-  
र्यत्पर्याप्तकलद्विजाधिपसमीक्षातोरुम्भूत्पूरभृत् ॥  
लक्ष्मीशोखिलदानवारिसततप्रसिग्धसद्भाक्षिस्ति-  
र्घोषध्वस्तमलो जयत्युरुकृपासिद्धिगुरुः केशवः ॥  
अर्थ चतुष्टयवाची ॥ तत्र प्रथमं गुरुपक्षे केशवो गुरुज-  
ति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । गृणात्युपदिशति शास्त्राणी-  
ति गुरुः । तमेव सर्वोत्कर्षं द्योतयति तीर्थानामधि-  
प इत्यादिविशेषणैः । ' तीर्थो ध्वरे गुरौ मार्गे ' इत्य-  
भिधानात् । तीर्थानां गुरुणामधिपः महागुरुरित्यर्थः ।  
तल्लक्षणमाह स्मृतिः " पिता पुत्रमुत्पाद्य संस्कृत्य  
वेदान्वेदार्थीश्च ग्राहयित्वा वृत्तिं कल्पयति स महागुरु-  
र्भवति " इति । यद्वा तीर्थानां गंगादीनामधिपः " सर्वतीर्थ-  
मयो गुरुः " इति स्मृतेः । कुम्भच्छित्तपदः कुम्भतो राजाम-  
स्तेः श्रितं सेवितं पदं यस्यासौ तथा । असंत्यक्तवेलास्थि-  
तिः न संत्यक्ता वेलासु पूर्वाह्णादिकालेषु स्थितिर्विहि-  
ताचारो येनासौ । तथा यत्पर्याप्तकलद्विजाधिपसमीक्षा-

निर्णयाद्यथकृतावैवाहसदीपिका ॥ ५ ॥ श्रीभर-  
 द्राजमुनिश्रेष्ठवंशोद्भव औदीच्यज्ञातिमंडनः सकला-  
 गमाचार्यवर्योज्योतिर्वित्कुलावतंसोऽनेककलाकलाप-  
 चतुरः श्रीदैवज्ञराणर्गतनयः श्रीकेशवार्कःकरणः कंठी-  
 रत्नाद्युक्तवानिजांसत्कविताविशेषरचनासमेतांवाक्यवि-  
 चारचातुरीं दर्शयन्साहितास्कंधैकदेशभूतं विवाहप्रदलं  
 त्रिकीर्णुर्जन्मजन्मांतराजितदुरितोत्पन्नप्रत्यूहानिरासेन  
 ग्रंथसमाप्त्यर्थे समाप्तेपि ग्रंथे तत्परिचयार्थः शिष्टाचारः  
 परिपालनेन शिष्यशिक्षार्थं च आशीर्लक्षणं मंगलमा-  
 चरन् श्रीलक्ष्मीनारायणयोर्विवाहलक्षणं प्रथमसन्निवेश-  
 नं वसंततिलकवृत्तेन वर्णयति-

श्रीशार्ङ्गिणोऽसृजतु वो नवसन्निवेशः  
 केशव्ययं चलवलन्नयनांचलश्रीः ॥  
 यत्रांचलग्रथनमंगलमाचचार-शृंगार-  
 हारमणिकौस्तुभरश्मिगुंफः ॥ १ ॥

श्रीशार्ङ्गिणोरिति ॥ अयं ते विश्वमेतांसां श्रीः शार्ङ्गीयस्या-  
 स्तीति शार्ङ्गी तयोर्लक्ष्मीनारायणयोः स नवसन्निवेशः  
 नवसंगमः "सन्निवेशस्तु संस्थायां प्रवेशे संगमेऽपि च" इत्य-  
 भिधानात् । वः युष्माकं केशव्ययं सृजतु करोत्वित्याशीः ।  
 नवसन्निवेशजातिं विशेषणद्वारेणाह । चलवलन्निति । च-



लतस्तौ चलो बलतस्तौ बलतौ स्थानांतरगमने च-  
लनं तस्मात्परावर्तनं बलनं चलाश्च बलंतश्च चलध-  
लंतः नयनानामंचलोः प्राप्ता नयनांचलाः चलबलंत-  
श्च ते नयनांचलाश्च चलबलन्नयनांचलास्तेषां श्रीः  
शोभा यस्मिन्नवसंनिवेशे स तथा । समासांतविधेरनि-  
त्यत्वात्कप्रत्ययाभावः । सानुरागपरस्परवलोकने-  
न नयनांचलो चंचलो बलंतौ चेति जातिः लज्जा  
कुलतया नयनांचलाभ्यामेवावलोकनं युक्तं स क-  
यत्र नवसंनिवेशे शृंगारहारमणिकौस्तुभरश्मिगुं-  
फः अंचलग्रथनमंगलमाचचार आचीर्णवान् । शृंगा-  
रस्य हारः शृंगारहारः तस्य मणिः शृंगारहारमणिः  
स च कौस्तुभश्च शृंगारहारमणिकौस्तुभौ तयो रश्म-  
यस्तेषां गुंफः गुंफग्रथने । गुंफनं गुंफः ग्रथनामिति या-  
वेत् । अंचलयोग्रथनं तदेव मंगलमंचलग्रथनमंग-  
ले त्रियः शृंगारहारमणिः शार्ङ्गिणस्तु कौस्तुभः  
तद्रश्मीनां परस्परं ग्रथनमंचलग्रथनभावं प्रापित्यर्थः ।  
विवाहसमये वधूवरप्रावृत्तवस्त्रांचलग्रथनं मंगलत्वेन  
क्रियत इति शिष्टसमाचारः । स तु प्रागेव शृंगारहार-  
मणिकौस्तुभरश्मिगुंफनेनैव निष्पन्न इति भावः ।  
अत्र मंगलार्थं गणादिदोषनिरासार्थं वादो श्रीशब्द-  
प्रयोगः तदुक्तं देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाच-

काः।तेसर्वे नैव निन्दाः स्युर्लिपितो गणतोपि वा” इति।  
यथा“श्रियः कुरूणामधिपस्य”इत्यादौ ॥ १ ॥

संवर्ग्य गर्गभृगुभागुरिरैभ्यगीभ्यः

सारं वराहमिहिरादिमतानुसारम् ॥

स्फारत्स्फुरत्परिमलाढ्यफलं विवाह-

वृन्दावनं विरचयामि विचाररम्यम्॥२॥

अथास्य ग्रंथस्य आर्षमूलत्वेन प्रामाण्यं तथा  
प्राचीनग्रंथेभ्यो वैशिष्ट्यं द्योतयन्संबन्धादि-  
चतुष्टयगर्भं तदारम्भहेतुं वसंततिलकयाह ॥ संवर्ग्ये-  
ति । अहं विवाहवृन्दावनं नाम ग्रंथं विरचयामि । अन्वर्थ-  
नाम विवाह इवविवाहः स्त्रीपुरुषसमागमलक्षणः  
तदर्थं वृन्दावनमिव वृन्दावनं विवाहवृन्दावनं कृष्णो  
हि तत्र गोपीभिः सह परस्परपाणिधारणपूर्वकरास-  
क्रीडादिकं कृतवान् अन्येपि शूरसेनसुपेणादयः । वृ-  
न्दावनं नाम वनं यमुनातीरे प्रसिद्धम् । यद्वा विवाहानां  
वृन्दं विवाहवृन्दं तदवतीति विवाहवृन्दावनम् । अत्रहि स-  
म्यक्सदसत्फलनिरूपणेन असत्समयपरित्यागात्स-  
मयविवाहकरणेन पुत्राद्यभिवृद्धिद्वारा विवाहावन-  
त्वं युक्तमस्य ग्रंथस्याकथंभूतं विवाहवृन्दावनं स्फार-  
त्स्फुरत्परिमलाढ्यफलं स्फारंति तानि स्फारंति विस्तृ-  
तानि।स्फुर स्फूर्तौ । स्फुरंति तानि स्फुरंति विकसमा

नानि परिगतो मलः परिमलः दोषाभावः “कुगतिप्राद-  
यश्च” इति तत्पुरुषः । तेनाढ्यानि परिमलाढ्यानि स्फारं-  
तिस्फुरन्ति परिमलाढ्यानि फलानि नक्षत्रफलादीनि य-  
स्मिन्स्तथा । पुनः कीदृशं विचारंरम्यं नानाविधविरुद्धमु-  
निवाक्यानां पूर्वपक्षसिद्धांतरूपसारासारविचारेणरम्यम्  
किंकृत्वा गर्गादिगीर्भ्यः सारं संवर्ग्यगर्गादयो यवनसित-  
पुलस्त्यादीनामुपलक्षणम् तेपामप्यत्र मतोपन्यासदर्श-  
नात् । गर्गादीनां गिरः वचनानि तेभ्यः एकदेशीयादिवा-  
क्यपरित्यागेन बहुमतस्वीकारात्मकं सारं संवर्ग्य मेल-  
यित्वा । न केवलं समत्वेनैव सारं संवर्गितं किं तु वराहमि-  
हिरादिमतानुसारम् । आदिशब्देन लल्लश्रीपतिश्रीधरा-  
दीनां ग्रहणं वराहमिहिरादीनां मतमनुसरतीति तथा  
गर्गादिवाक्यानां सारासारपर्यालोचनया वराहादिमता-  
नुसारं विचार्य विरचयामीत्यर्थः । अत्रत्यानां मद्ब्र-  
नानामपि गर्गादिमुनिवाक्यमूलत्वेन प्रामाण्यमि-  
तिभावः । स्फारदित्यादिविशेषणद्वयेन पूर्वग्रंथे-  
भ्योस्य वैशिष्ट्यं द्योतितम् । अथ संबंधादिचतुष्टयकथ-  
नमंतरेण शास्त्रारंभवैयर्थ्यप्रसंगः । तदुक्तं “ सिद्धिः  
श्रोतृप्रवृत्तीनां संबंधकथनाद्यतः ॥ तस्मात्सर्वेषु  
शास्त्रेषु संबंधः पूर्वमुच्यते ॥ किमेवात्राभिधेयं स्यादि-  
ति पृष्टस्तु केनचित् ॥ यदि न प्रोच्यते तस्मै फल

शून्यं तु तद्भवति ॥ सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वा  
 पि कस्यचित् ॥ यावत्प्रयोजनं नोक्तं तद्विस्तृत्य  
 न गृह्यते ॥ इति एवं वृद्धोपदेशः हृदि त्मस्वी अनेनैव धेन  
 येन संबधः सूचितः ॥ परिमलद्वयफलमित्यनेन अभि  
 धेयं सूचितं तस्यास्य शास्त्रस्य च प्रतिपाद्यप्रतिपाद  
 कत्वेन संबधो वा ॥ प्रयोजनं तु शुभाशुभफलावे  
 शः ॥ तज्जिज्ञासुरधिकारी ॥ एतदुक्तं भवति चतुरानन  
 मुखादिभिः सूतस्यास्य शास्त्रस्य नारदवासिष्ठादिमुनि  
 परंपर्यास्मिंल्लोके प्रथितस्य ब्रह्मणा सह संबधः ॥  
 उक्तं च नारदेन अस्य शास्त्रस्य संबधो वेदांगमिति धा  
 तृतः इति ॥ अस्य शास्त्रस्य वेदांगत्वमिति कृत्वा धातृत  
 संबध इत्यन्वयः यद्वा वक्ष्यमाणाभिधेयस्य तत्प्रति  
 पादकशास्त्रस्य ॥ च प्रतिपाद्यप्रतिपादकत्वेन संबधः ॥  
 नक्षत्रशुद्धिकालमीमांसाशास्त्रमेलकनवांशविचारग्रह  
 गुणचंद्रतारावलराहुलक्ष्मीतिथ्यादिलग्नशुद्धिगोधूलिक  
 गोचरानणयशुभाशुभयोगभातफलयोगवलसासुद्रिक  
 लक्षणादिमिश्रफलवधूवरप्रश्नादिकप्रतिपाद्यत्वादत्रा  
 भिधेयम् ॥ प्रयोजनं तु जन्मजन्मांतसंजितसदस  
 त्कर्मविपाकरूपशुभाशुभफलसूचकनक्षत्रग्रहफलादि  
 नां जगंतः शुभाशुभतिरूपणतत्राशुभफलं ग्रहशा  
 त्यादिना ग्रहवलाद्युपेतं ॥ सत्समये विवाहादिसं

पादनेन वासश्चकुननिमित्तादिना वंचयिष्यत इति  
 कृत्वा तथा तत्प्रतीकारनिरूपणं च । उक्तं च नारदेन  
 “प्रयोजनं तु जगतः शुभाशुभनिरूपणम् ॥” इति ।  
 तज्जिज्ञासुरधिकारी स च द्विज एव । न तु शूद्रादिः  
 वेदांगत्वात् । यतो द्विजैरेव सांगोवेदोऽप्येतव्यो ज्ञातव्यः  
 श्री । उक्तं च “तस्माद्विजैरध्ययनीयमेव पुण्यं रहस्यं परमं  
 च तत्त्वम्” इति । अध्यापने तु ब्राह्मण एवाधिकारी क्षत्रि-  
 यवैश्ययोराध्यापननिषेधात् । सदाप्रयोजनं तु वेदांगा-  
 ध्ययनेन धर्मप्रतिपालनत्वात् । जगतोऽशुभनिराकरणे-  
 न च सुकृतसंचयद्वारा त्रिकालदर्शित्वेन योगितुल्या-  
 प्रस्थांगतस्य योगिवन्निरतिशयानंदावाप्तिलक्षणमो-  
 क्षावाप्तिः । उक्तं च श्रीमद्भागवते गौरी प्रति नरेन “ज्यो-  
 तिप्रामयनं साक्षात्तज्ज्ञानमर्तोद्विषम् ॥ प्रणीतं भव-  
 ता येन पुमान्नेदंपरावरम्” इति । सिद्धांतेपि “यो ज्योतिषं  
 वेत्ति नरः स सम्यग्धर्मार्थमोक्षार्हं भवेत् यशश्च” इति ।  
 गौरीपि “अथ तश्चार्थतश्चेतत्कृत्स्नं जानाति यो द्विजः ।  
 अथ भुक् स भवेच्छास्त्रे पूजितः पंक्तिपावनः ॥” इति ।  
 अत्र सम्यक्पदग्रहणेनासम्यक्छास्त्रं परिज्ञानादयथा-  
 शास्त्रम् । विवाहादिफलादेशकस्य पंक्तिद्वयकत्वमस्ती-  
 तिगम्यते । यत उक्तं तेनैव “अविदित्वेव यः शास्त्रं देवज्ञत्वं  
 प्रपद्यते । स पंक्तिद्वयकः पापज्ञो न क्षत्रसूचकः ॥ न क्षत्र-

सूचकोदिष्टमुपवासं करोति यः। सत्रजत्यंधतामिस्रं सार्द्धं मृक्षविटंबिना॥” इति। ऋक्षविटंबिना नक्षत्रसूचकेन। अतश्चायथाशास्त्रमादेशकएवनक्षत्रसूचकः नत्वकृत्स्नशास्त्रपरिज्ञाता दैवज्ञत्वं प्रपद्यत इत्युक्तत्वात् । पूर्वाजितसदसत्कर्मविपाको दैवमित्युच्यते तज्जानातीति दैवज्ञः तस्यभावो दैवज्ञत्वम् । बृहस्पतिरपि “दैवज्ञैः शास्त्रतत्त्वज्ञैर्मुहूर्तोऽन्विष्यते यदि । सन्मुहूर्तः समन्वेष्ट्यो नान्यैर्नक्षत्रसूचकैः॥” इति। अतएव कश्यपेन वेदपारगसाहित्येनैव नक्षत्रसूचकस्य श्राद्धे पूज्यत्वं स्मर्यते “अरिर्विश्रंभहंता चव्यंगो नक्षत्रसूचकः॥ काणः कुंठश्च मंदश्च श्वित्रो मूर्खः सुवृत्तवान् ॥ सर्वे श्राद्धे नियोक्तव्या मिश्रिता वेदपारगैः ॥” इति । दोषोपि स्मर्यते “प्रायश्चित्तं चिकित्सां च ज्योतिषं धर्मनिर्णयम् ॥ विना शास्त्रेण यो ब्रूयात्तमाहुर्ब्रह्मपातकम् ॥” इति । अतोऽसम्यक्शास्त्रवेदनादयथाशास्त्रं फलादेशको नक्षत्रसूचकः । ननु शास्त्रैकदेशवेत्तेति सिद्धम् । अतएवोक्तं गर्गादिभिः “वनं समाश्रिता येपि निर्ममा निःपरिग्रहाः ॥ अपि ते परिपृच्छन्ति ज्योतिषां गतिकोविदम् । मुहूर्ततिथिनक्षत्रमृतवश्चायने तथा ॥ सर्वाण्येवाकुलानि स्युर्न स्यात्सांवत्सरो यदि । नासांवत्सरिके देशे वस्तव्यं भूतिमिच्छता । चक्षुर्भूतो हि यत्रैष पापं तत्र न विद्यते ॥” इत्यादि मुक्ताषल्यादि

प्रापि “ दशदिनकृतपापं हन्ति सिद्धांतवेत्ता त्रिदिन-  
जनितमहस्तंत्रवेत्ता निहन्ति॥ करणभगणवेत्ता चैकरा-  
त्रोत्थपापं जनयति बहुपापं चैकनक्षत्रसूची” इति। एकः  
केवलः नक्षत्रसूचकः । अतोस्य शास्त्रस्यैकदेशाध्ययने  
पि त्रैवर्णिकस्यैवाधिकारोस्तीति सिद्धम् । तत्राप्यार्य-  
वाक्यानां पाठमात्रेणापि फलमस्ति स्मृत्यादिपठन-  
वदिति ॥ २ ॥

ध्रुवानुराधामृगमूलरेवतीकरंमघास्वा-  
तिरद्वूपणोगणः॥ रवेरमीनामकरादिप  
ङ्गुहीकरग्रहेमंगलकृन्मृगीदृशाम् ॥ ३ ॥

अथविवाहासर्वकार्येषुनारदादिभिःप्रथममुद्दिष्टत्वात्पं-  
चांगशुद्धेः प्राधान्यं तत्रापि प्राधान्यं नक्षत्रशुद्धेः । तथा  
चाहुः “ भावांशशुद्धोदयमप्यशुद्धं भशुद्धिर्हानं प्रवदं-  
ति संतः । तस्माद्विशेषेण भशुद्धिमादौ विचार्य कार्यं  
शुभमाहुरार्याः ” इति । अतः सैव प्रथममभिधीयते सा वृ-  
त्तनक्षत्राणामेव । अतः प्रथमं शुभनक्षत्राण्युक्त्वा तत्प्र-  
संगेन शुभान्तोरमासांश्चाह वंशस्थवृत्तेन ॥ ध्रुवेति ।  
रोहिणी च्युत्तराणि अनुराधादीनि प्रसिद्धानि करो-  
हस्तः तेषां समाहारे एकवद्भावः कृत्वित्वं चामवास्वा-  
त्यौ प्रसिद्धे अयमेकादशनक्षत्रात्मको गणः चेद-  
द्वूपणः वक्ष्यमाणपापवेधादिदोषरहितः तदा मृगीदृशां

स्त्रीणां मृगजातिः स्त्री मृगीतस्या दृगिव दृग्यासां तासां  
 करग्रहे विवाहे मंगलकृत्स्यात् । वक्ष्यति च “स्यूरद  
 दूषणभूषणे”त्यादि क्रूरवेधादिदोषेत्वशुभफलं तत्र तत्र  
 वक्ष्यति । रवेरिति । पण्णागृहाणां समाहारः पङ्गुही मकर  
 आदिर्यस्याः सा मकरादिः सा चासौ पङ्गुही च मकरादि  
 पङ्गुही अंमना मीनरहिता मकरकुंभमेषवृषमिथुन-  
 स्थोर्को विवाहे मंगलकृदित्यर्थः । नन्वत्र नक्षत्रग्रहादीनां  
 शुभफलकर्तृत्वं कथं युज्यते प्राचीनसदसत्कर्मविपा-  
 करूपस्य दैवस्यावश्यं भावित्वात् । तथाच शौनकः “येन  
 तु यत्प्राप्तव्यं तस्य विधानं सुरेशसचिवोपियः साक्षान्नि-  
 यतिज्ञः सोऽपि न शक्तोऽन्यथाकर्तुम् ॥ तं द्विज्ञानोपायं लग्न  
 विधानेन संप्रवक्ष्यामि । जन्मन्यथवा प्रश्ने तत्सदृ-  
 शफलं विवाहेऽपि ” इति ॥ अतो यथोक्ता विवाहादि  
 समयादैवपाकज्ञानोपायाः विवाहादिषु यादृशसमयावा-  
 प्तिस्तादृशं दैवमस्तीति ज्ञेयम् ॥ यत उक्तं तेनैव  
 “ वरणप्रदानपरिणयश्चीप्रपूजाभिषेककरणानि ॥  
 सुशुभे तिथौ विलग्नौ न भवन्ति किलाल्पपुण्या  
 नाम् ” इति ॥ अतो विवाहादिशास्त्रं दैवज्ञापकमेवेति  
 नैवं सद्युक्तं मन्यसे विवाहादिषु विहितशुभकालस्य  
 यंत्रादिना प्रयत्नेन पुरुषसौध्यत्वात् । सत्युभययोगे  
 कर्मसिद्धिर्न केवलं दैवेनेति । तथाच वक्ष्यति “ फलेद्यदि  
 प्राक्तनमेव तर्त्तिक कृष्याद्युपायेषु परः प्रयत्नः । श्रुतिः



पितामहोक्तां संवीक्ष्य लघ्नशुद्धिं प्रचक्ष्महे” इति॥ अतो  
 दैवयत्नयोरन्यतरेण फलसिद्धिर्न भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह  
 याज्ञवल्क्यः “यथा ह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत्।  
 तद्वत्पुरुषकारेण विना देवं न सिद्ध्यति” इति॥ अत एव  
 ग्रंथकारोऽपि वक्ष्यति “प्राक्कर्मबीजं सलिलानलोर्वासंस्का-  
 रवत्कर्मविधीयमानम्। शोषाय पोषाय च तस्य तस्मा-  
 त्सदा सदाचारवतां न हानिः” इति॥ यत्प्राक्कर्म तस्य शो-  
 षाय पोषाय च अधुना विधीयमानं कर्म भवति। किं वत्।  
 बीजं सलिलानलोर्वासंस्कारवत् यथा सद्बीजं शुभैः स-  
 लिलादिसंस्कारैः संस्कृतं सदुदेति वर्धते च तद्वत्प्राक्क-  
 र्मापि ऐहिकेन सत्प्रयत्नेन वर्धते अन्यथा क्षीयत इत्य-  
 र्थः। तस्मात्कारणाच्छास्त्रविहितविवाहादिशुभकाल-  
 ग्रहज्ञातिचिकित्सादिसदाचारवतां पुरुषाणां सदा न  
 हानिः स्यात्। अपिचादेवं किल पुरुषनिष्ठं तद्देशका-  
 लवशत एव विपच्यते दुष्टमपि दुष्टान्तरसाहित्येनैव दुष्ट-  
 कारि यथा दुर्जनो रंध्रान्वेषणेन। अतएवोक्तं श्रीपतिना  
 “अकालचर्या मृगया च साहसं सुदूरगमनं गजवाजिवा-  
 हनम्॥ गृहे परेषां गमनं च वर्जयेद्ब्रह्महेषु राजा विपमस्थि-  
 तोऽपि” इति। वंसतराजोऽपि “नैतदेवमिह येन देहिनां पू-  
 र्वकर्म विहितं कुतोऽपि हि। देशकालवशतो विपच्यते  
 युज्यते व्यवहितं कथं तु तत्” इति। एतदेवं प्रमाण्य शेषं  
 स्पष्टम्। अतश्च दुष्टमपि दैवफलं विवाहादिसत्समयावा-

तिरूपयत्नेन निवर्त्यते एवायथाह स एव “सर्पवह्निविष  
 कंटकादिकं येन देवशरणोपि मानवः । दूरतस्त्यजति  
 पौरुषं सदा तेन न स्फुरति देवतोऽधिकम् ॥ पौरुषेण  
 हृदयोप्सतां गतिं प्राप्नुवन्ति पुरुषाः सुमेधसः । यांति  
 देवशरणालयं यथा पादयोर्ज्वलाति दावपावके” इति ॥  
 अतः शकुनगोचरादिना आवेदितमशुभं देवफलं  
 शुभेन प्रयत्नेन संतो वंचयन्त्येव । तथा च स एवाह  
 “तन्निरूप्य शकुनेन दुःखदं वंचयन्ति नियतं समुद्यतम् ॥  
 पौरुषेण पुरुषाः सुमेधसः संश्रयन्ति पुनरात्मनो  
 हितम्” इति ॥ तद्देवफलं दुःखदं समुद्यतं शकुनेन नि-  
 रूप्य पुरुषाः पौरुषेण वंचयन्तीत्यन्वयः । अथानन्तरोक्तेः  
 सर्पवह्नादिदृष्टान्तः पौरुषमेव फलसाधनं कथं न स्या  
 त् । उच्यते । समानभूमिषु समानसलिलादिसंस्कारेऽ-  
 पि फलवैचित्र्यदर्शनात्कारणान्तरं कल्प्यते । तदेव दे-  
 वमिति । अत उभययोगे सत्येव फलसिद्धिरिति अथ  
 केचिद्बुद्धिः कर्मानुसारिणीति मन्यमानाः प्रयत्नोपि दे-  
 वानुरूप इति कृत्वा देवमेव फलसिद्धेः कारणमिति  
 मन्यन्ते । तत्र चतुरस्रम् अनवस्थादोषप्रसंगात् । तथा  
 हि । प्राक्कर्माजितपौरुषमेव किल देवमुच्यते । अत्रत्यः  
 प्रयत्नः प्राचीनपौरुष लक्षणेन देवेन जन्यः तदपि पौरु-  
 तत्प्राचीनपौरुषजन्यं तदपि तत्प्राचीनपौरुषजन्य-  
 मित्यनवस्था अतः प्रयत्नोपि देवप्रेरितइत्यपप-

ब्रानैतन्मन्यामहे। न खल्विदमनवस्थादूषणम्। अनादि-  
 संसारे बीजांकुरन्यायदृष्टान्तसद्भावात् । न चैतद्युक्तम् ।  
 नाहि बीजांकुरन्यायाद्वैवमेव मूलमिति निश्चीयते ।  
 नापि प्रयत्नः । अतः संत्युभययोगे फलसिद्धिरिति म-  
 तं चतुरस्रम् । एवं चेत्तर्हि शौनकोक्तवाक्यानां पूर्वोक्ता-  
 नां का संगतिः । उच्यते। दैवं तु दृढकर्मरूपमदृष्टक-  
 र्मरूपं चेति द्विविधम् । तत्र दृढकर्मरूपस्यावश्येभावि-  
 त्वाद्विहशांत्यादिरूपेण संपूर्णप्रयत्नेनापि तन्निवारयितुं  
 न शक्यते । दृढमूलत्वात् । खरतरवाताघातेपि  
 दृढमूलपादपवत् । अदृढकर्मरूपं तु प्रयत्नेन निवा-  
 र्यते प्रशिथिलमूलपादपवत् । तथाच जातके । “ये धर्म-  
 कर्मनिरता” इत्यादि । प्रयत्नाभावे तु विपच्यत इव ।  
 तथाच तत्रैव “पापिष्ठा ये दुराचारा देवब्राह्मणनिन्दकाः ।  
 अपथ्यभोजिनस्तेषामकालमरणं ध्रुवम्” इति ॥ अत  
 एव चिकित्साशास्त्रेपि “पूर्वजन्मकृतं पापं व्याधिरूपेण  
 बाध्यते ” इति ॥ सर्वव्याधीनां साधारण्येन कर्मज-  
 न्यत्वेपि साध्यासाध्यत्वेन द्वैविध्यमस्ति । तत्रापि  
 “कृच्छ्रोपायः सुखोपायो द्विविधः साध्य उच्यते ।  
 असाध्यो द्विविधो ज्ञेयोऽसाध्यो यश्चाप्रतिक्रि-  
 यः ॥ साध्योऽसाध्यत्वमायाति साध्यश्चासाध्यतां  
 तथा । भ्रंति प्राणानसाध्यास्तु नराणामक्रियावताम्” इ-  
 त्यादिना अचिकित्सितव्याधेर्दृढकर्ममूलत्वमन्येषाम-

दृढकर्ममूलत्वं निश्चीयते । अत्रो. दैवस्येदृशं द्वैविध्य-  
मस्ति । अतः शौनकादिवाक्यानां पूर्वपक्षरचिता-  
नामयमर्थः ॥ येन त्विति । येन- पुरुषेण यत्प्राप्तव्य-  
मवश्यं भोक्तव्यं दृढकर्मोपार्जितमिति यावत् । तद्बृ-  
हस्पतिरप्यन्यथाकर्तुं न शक्तः । अर्थादन्यददृढक-  
र्मोपार्जितमन्यथा कर्तुं शक्त इत्यर्थः । वरणप्रदानेति ।  
तद्विज्ञानोपायमिति । अत्रायं भावः । यस्य परिण-  
यनादिकाले दुष्टबृहस्पतिचंद्रादौ दृष्टे सति तदैवपा-  
कस्य तादृशमशुभफलमिति ज्ञातम् । उक्तं च विवाह-  
पटलांते तेनैव “ एवं बुद्ध्वा मतिमान् भविष्यफलमा-  
दिशेत्समुद्राहे ” इति । अतो वौधायनादिविहिते-  
न तच्छांतिरूपेण धर्मेण प्रयत्नात्मकेन तन्निवर्त्य-  
ते । “ धर्मेण पापमपनुदति ” इति श्रुतेः । शुभकालेन तु  
अशुभदैवफलं निवर्त्यते शुभं तु वर्द्धते । अत एव  
तत्रैव तेनैवोक्तं “ सुपरीक्षितं विलग्नं धर्मार्थसुखाय भवति  
दंपत्योः । तद्विपरीतं निमेषादनागतातीतकालेन ॥  
अपरीक्षितं विलग्नं नहि देयं पंडितेन दैवविदां । अय-  
शौबुनिधौ मज्जति शास्त्रमविज्ञाय यो दद्यात् ” इति ॥  
बृहस्पतिरप्याह । “ स्वभावादेव कालोऽयं शुभाशु-  
भसमन्वितः । अनादिनिधनः सर्वो न निर्दोषो न निर्गुणः ॥  
तस्मान्निर्दोषकालार्थं मुहूर्तमधिगच्छताम् ॥ कालः शु-  
भो गुणैर्युक्तो बलवद्भिः शुभप्रदः । दोषैर्युक्तोऽपि च प्रा-

णैर्वहुभिर्व्यत्ययं द्वयोः” इति । अतः शुभकालवलेन पूर्व-  
कर्मोपार्जितमशुभमपि निवर्त्यत इति सर्वमनवद्यम् ॥ अ-  
तो नक्षत्रादीनां कालावयवत्वात्सर्वकर्मसु शुभाशुभ-  
फलदातृत्वमस्तीति सिद्धम् ॥ ३ ॥

• प्राचेतसः प्राह शुभं भगर्क्षं सीता त-  
दूढा न सुखं सिपेवे ॥ पुण्यस्तु पुण्य-  
• त्यतिकाममेव प्रजापतेराप स शाप-  
मस्मात् ॥ ४ ॥

अथ पूर्वाफलशुनीपुण्यौ कैश्चिदुक्तौ तन्मतनिरासार्थ-  
माह । इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रामिश्रणात्मिकोपजातिकेयम् ।  
प्राचेतस इति । प्रकृष्टं चेतो यस्यासौ प्रचेताः  
तस्यापत्यं प्राचेतसो मुनिविशेषः स भगर्क्षं पूर्वाफलशु-  
नीनक्षत्रं शिवं शुभमस्मिन्विवाहे यत्प्राह तस्मिन्नक्षत्रे  
ऊढा परिणीता सीता सुखं न सिपेवे न सेवितवती ।  
वनवातरक्षोहरणादिकं दुःखमेवाप । अतो गर्गशौन-  
कनारदादिभिर्नोक्तमिति कृत्वा तन्नादरण्यमिति  
भावः । ननु विवाहे भगर्क्षविधायकस्य मुनिवचनस्य  
कथमयं प्रत्यक्षबाधः । उच्यते । तस्य सीताविवाहात्प्रा-  
ग्युगविशेषविषयत्वादिति योजनीयम् । पुण्यस्तु अति-  
कामं पुण्यति वर्द्धयति एवं कारणादस्मिन्विवाहविषये  
स पुण्यः प्रजापतेर्ब्रह्मणः सकाशाच्छापमाप प्राप्त-

वान् । पुण्याति कार्याणीति पुण्यः । क्यवंतो नि-  
 पातः । ब्रह्मणः किल विवाहः पुण्येभूत् । अनं-  
 तरं शंभुविवाहसमये पार्वतीसौंदर्यदर्शनात्प्रचलित-  
 चेतसो ब्रह्मणः परिहितवस्त्रांतश्च्युतवीर्यस्य हस्त-  
 द्रयेन परामृष्टस्य तंतुमध्यस्थितकणसहस्रेभ्यो नि-  
 ष्पन्ना अंगुष्ठप्रमाणाः पष्टिसहस्रमिता वीलखिल्या-  
 नाम मुनयोभूवन्निति ब्रह्मपुराणादौ प्रसिद्धं ततोनुत्तमो  
 ब्रह्मा ज्ञानदृष्ट्या सम्यगवलोक्य पुण्यकृतविवाहनि-  
 मित्तमिदमिति कामोद्रेकरूपं वैकृतमिति निश्चित्य  
 विवाहविषये पुण्यं शप्तवानिति कृत्वा गर्गादिभिः स  
 निषिद्ध इति भावः ॥ तथाच शौनकः “अब्दचतुष्का-  
 त्कन्या गुरुकुलविद्वेपिणी भवतिपुण्ये । कृपणा पतिसं-  
 त्यक्ता वैधव्यं वा समाप्नोति” इति ॥ अन्येपि ‘ग्रहेण वि-  
 द्दोप्यशुभान्वितोपी’ति ॥ ४ ॥

प्रावृद्धसंतोर्जसहःकरग्रहः परैरुदाहा-  
 रि न हारि तन्मतम् ॥ रवेरवैसारिणमु-  
 त्तरायणं पुरंध्रिपाणिग्रहणे पराय-  
 णम् ॥ ५ ॥

अथ विवाहे प्रावृट्कालादिकं कैश्चिदुक्तं तन्मतं  
 निरस्यति ॥ इन्द्रवंशावंशस्थमिश्रणात्मिकोपजातिका ॥  
 प्रावृट्पूर्वा वसंतः प्रसिद्ध ऊर्जः कार्तिकः सहा मार्गशी-

र्पः तेषु करग्रहः परैरन्यैर्वात्स्यपराशरादिभिः उदा-  
 हारि उदाहृतः । तन्मतं हारि न हरतीति हारि  
 मनोहारि न चार्वित्यर्थः । तत्र हेतुमाह । खेरिति ।  
 यतो खेरुत्तरायणं मकरादिषट्कमवैसारिणं मीनरहितम्  
 'मीनो वैसारिणोण्डजः' इत्यभिधानात् । पुरंध्रीणां स्त्री-  
 णां पाणिग्रहणे परायणमतिश्रेष्ठम् । अमीनोत्तरायणस्य  
 गर्गादिवहुसंमतत्वादक्षिणांतःपातिनां प्रावृडादीनां  
 ग्रहणमेकदेशीयमतो नादरणीयमिति भावः । तथाच  
 ज्योतिःसारे "वात्स्यो वर्षमनूनमिच्छति तथा रैभ्योयनं  
 चोत्तरं स्त्रीनामानमृतुं विहाय मुनयो मांडव्यशिष्या  
 जगुः ॥ चैत्रं प्रोज्झ्य पराशरः परिणये पौषं च दौर्भाग्य-  
 दं त्वापाढादिचतुष्टयं न शुभदं कैश्चित्प्रदिष्टं बुधैः" इति  
 स्त्रीनामा ऋतुः प्रावृट्शरच्च । शौनकस्तु वर्णविशेषेण  
 ऋतुविशेषमाह "परिणयकालः शुभदः शरादि वसंते  
 च विप्राणाम् । राजन्यवैश्ययोरपि शुभदोऽग्राप्सः स-  
 मुद्दिष्टः ॥ घनसमये शूद्राणां शिशिरे चान्यत्र संकर-  
 भवानाम् ॥ " इति । नारदस्तु "अप्रबुद्धो हृषीकेशो  
 यावत्तावन्न मंगलम्" इति शुक्लेकादश्युत्तरं कार्तिकं  
 मार्गशीर्षं च विधत्ते । अन्येपि 'नापाढप्रभृतिचतुष्टये  
 विवाहः' इत्यादिना तौ विदधते । शौनकस्तु तौ निषेधति  
 "कुलटा वै कार्तिके मासि । सौम्ये परवेश्मरता कलहप-  
 रा दुःखसंतप्ता" इति ॥ शार्ङ्गधरादिभिस्तु तौ मध्यमाबु-

क्तौ। एवं सति देशाचारतोत्र व्यङ्ग्यं स्था ज्ञेया 'देशे देशे  
या स्थितिः सैव कार्या' इति वराहोक्तत्वात् । दाक्षिणा-  
त्या हि मार्गशीर्षे विवाहं कुर्वन्ति केचिद्भर्जराः कार्तिके-  
पीत्यादि । अतो ग्रंथकृता स्वदेशाभिप्रायेणेदमुक्तमि-  
ति सर्वमनवद्यम् ॥ ५ ॥

याम्योत्तराः प्रागपराश्च पञ्च द्वे द्वे च  
रेखे रचयेद्विदिक्षु ॥ विदिग्द्वितीयार्ग  
लिताग्नितारः सहाभिजित्तत्र भवेद्भ-  
वर्गः ॥ ६ ॥

अथ नक्षत्रदोषान्विवक्षुर्वैधदोषस्य महादोषांतःपाति-  
त्वेन प्राधान्यात्तमुपजातिकाद्वयेन तावदाह ॥ याम्यो-  
त्तराः प्रागपराश्च पञ्च रेखा रचयेत् । विदिक्षु कोणेषु द्वे द्वे  
रेखे रचयेत् । इदं पञ्चशलाकारव्यचक्रं तत्र चक्रे सहा-  
भिजिद्विदिग्द्वितीयार्गलिताग्नितारः भवर्गः भवेत् ।  
अभिजिता सह वर्ततेऽसौ सहाभिजित् "तेन सहेति तु-  
ल्ययोगे" इति बहुव्रीहिः । तत्र सहस्यसादेशस्य वैकल्पि-  
कत्वम् विदिशि द्वितीया या रेखा तयार्गलिता संवद्धा  
अग्नितारा कृत्तिका यस्य स तथा कोणस्थद्वितीयरे-  
खातः कृत्तिकादीनि साभिजिन्ति नक्षत्राणि सव्येन  
मार्गेण अपसव्येन वा न्यसेदित्यर्थः । अपसव्यमार्गस्य  
शिष्टगार्हितत्वात्सव्यमार्गोत्र श्रेयान् ॥ ६ ॥



तस्मिन्नभिन्नाग्रगतं भिनत्ति ग्रहो वि-  
वाहर्क्षमशेषमेव ॥ स्त्रीपुंसयोरायुरसौ-  
म्यवेधः सौम्यव्यधो हन्ति सुखानि  
शश्वत् ॥ ७ ॥

तस्मिंश्चक्रे अभिन्नाग्रगतं विवाहर्क्षमशेषं समस्तमेव  
ग्रहो भिनत्ति । यस्यां रेखायां ग्रहस्तदग्रस्थनक्षत्रं वेध-  
यतीत्यर्थः । विवाहग्रहणं विवाहकृत्योपलक्षणम् ।  
यथाह श्रीपतिः “ वधूप्रवेशे दाने च चरणे पाणिपी-  
डने । वेधः पञ्चशलाकारव्यन्यत्र सप्तशलाकके ॥ ”  
इति । अशेषग्रहणं चरणवेधनिरासार्थं तद्विषयं वक्ष्य-  
ति । वेधफलमाह । स्त्रीपुंसयोरिति असौम्यवेधः पापग्र-  
हवेधः स्त्रीपुंसयोरायुर्हति स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ । अच-  
तुरादित्वात्साधुः । सौम्यव्यधः सौम्यग्रहवेधः शश्वद-  
नवरतम् सुखानि हन्ति ॥ ७ ॥

वैश्वदेवतचतुर्लवः श्रवः पञ्चभूलव इ-  
हाभिजिन्मितिः ॥ अन्यतः परिणया-  
दयं व्यधः सप्तरेखवलये विलोक्यते ८

अत्र सहाभिजिदित्युक्तम् । अतोभिजित्प्रमाणं  
तथा विवाहकृत्यादन्यत्र सप्तरेखाचक्रे वेध इ-  
त्याह । रथोद्धता । वैश्वदेवतेति । वैश्वदेवत-  
मुत्तराषाढा तस्य चतुर्लवश्चतुर्थीशः अंतिमः श्र

वः श्रवणस्तस्य पंचभूलवः पंचदशांश आदिमः इ-  
यमिह वेधादिविषये अभिजिन्मितिः स्यात् । अयमनं-  
तरोक्तो व्यधो वेधः विवाहात्कन्यावरणादिविवाहकृ-  
त्यादन्यतः अन्यत्र सर्वत्र व्रतबंधवास्तुयात्रादिषु सप्तरे-  
खवलये सप्तरेखचक्रे विलोक्यते । तथाच श्रीपतिः “वधू-  
प्रवेशे दाने च” इत्यादि । अत्र विवाहपटले अन्यकृत्यो-  
पयोगेवेधानिरूपणाद्वेधादयः सर्वे वक्ष्यमाणा दोषाः  
साधारण्येन सर्वशुभकृत्येषु ज्ञातव्या इति सूचितम् ।  
तथाच वक्ष्यति “ तदाखिलेपि खलं शुभकर्मणि ”  
इति ॥ ८ ॥

स किल वेधविधिर्द्वितृतीययोश्चरण-  
योर्मिथआदिचतुर्थयोः ॥ अशुभवि-  
द्धमशेषमुद्धृत्यजेच्चरणगं शुभवेधम-  
संपादि ॥ ९ ॥

अथ पादवेधं तद्विषयं चाह । द्रुतविलंबितम् ।  
सोनंतरोक्तो वेधविधिर्द्वितृतीययोश्चरणयोस्तथा आ-  
दिचतुर्थयोश्चरणयोर्मिथः परस्परं स्यात् । द्वौ च  
त्रयश्च तेषां पूरणौ द्वितृतीयौ तयोर्द्वितीयतृतीययो-  
रित्यर्थः । आदिश्च चत्वारश्च आदिचत्वारः तेषां पू-  
रणौ आदिमचतुर्थयोरित्यर्थः । प्रथमचरणस्थिते त्र-  
हे विद्धनक्षत्रस्य चतुर्थचरणो विद्धश्चतुर्थस्थे प्रथम  
इत्यर्थः । एवं द्वितीयतृतीयावपि । किलेति प्रसिद्धार्थे ।

न्यासक्रमेण प्रथमादिचरणस्थिते ग्रहे तद्रेखाग्रनक्षत्रच-  
तुर्थतृतीयप्रथमाश्वरणाः क्रमेण विद्धाः स्युरिति प्र-  
सिद्धम् । पादवेधविषयमाह । अशुभेति ॥ अशुभविद्धं  
पापग्रहविद्धमुडुनक्षत्रमशेषं समस्तं त्यजेत् । शुभस्य  
शुभग्रहस्य वेधं चरणस्थितमसंपदि असंपत्तौ अन्य-  
नक्षत्रालाभे सति त्यजेत् । अर्थादन्यनक्षत्रसंभवे स-  
ति शुभविद्धमपि नक्षत्रमशेषमेव त्यजेदिति । तथा  
च श्रीपतिः “ऋक्षं सौम्यग्रहैर्विद्धं पादमात्रं परित्य-  
जेत् । क्रूरैस्तु सकलं त्याज्यमिति वेधविनिश्चयः” इति ।  
यत्तु “क्रूरैरपि त्यजेत्पादं केचिदूचुर्मनीषिणः” इति  
केपांचिन्मतं तन्नारदादिवहुमतविरोधान्नादरणीयमिति  
भावः ॥ ९ ॥

यदशुभैर्गतगम्यमधिष्ठितं यदपि च  
त्रिविधाद्भुतदूषितम् ॥ तरणितारक-  
तोपि चतुर्दशं तदखिलेपि खलं शुभ-  
कर्मणि ॥ १० ॥

एवंवेधदोषं निरूप्य दोषांतराण्याह । द्रुतविलंबि-  
तम् ॥ सदिति ॥ यन्नक्षत्रमशुभैः पापग्रहैर्गतगम्यम-  
धिष्ठितं च अशुभश्च अशुभाच्च अशुभाश्च अशुभाः ।  
द्वेष्टकशेषः । एकेन अशुभेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा गतं भु-  
क्तं गम्यं भोग्यमधिष्ठितं युक्तं यदपि च नक्षत्रं त्रिवि-

धैर्भौमांतरिक्षैरद्भुतैः दूषितं दिव्याद्भुतानि ग्रहक्षेज-  
नितानि प्रत्यर्कादीनि भौमानि भूकंपादीनि आंतरि-  
क्षाणि उल्कादीनि एषामन्यतममद्भुतं यस्मिन्दिननक्ष-  
त्रे जातं यदापि च तरणितारकतः सूर्याधिष्ठितनक्षत्रा-  
च्चतुर्दशं संध्योदितमित्यर्थः । तरणेस्तारकं नक्षत्रं तर-  
णितारकम् “ कनोनिकायां नक्षत्रे तारकं तारकेति च ”  
इति विश्वः । कनोनिका नेत्रतारा तन्नक्षत्रमखिलेपि  
शुभकर्मणि विवाहव्रतबंधयात्रादौ खलं पापं स्यादिति  
प्रत्येकं संवध्यते ॥ १० ॥

रविनखैर्मितमर्कविधुंतुदौ मुनिभिरिं-  
दुरखंडलमंडलः ॥ द्रुतवहाकृतिपद्भि-  
नदंतिभिः क्षितिसुतादभिलत्तयति  
ग्रहः ॥ ११ ॥

अथ लत्तादोषमाह । द्रुतविलंबितम् । अर्कः सूर्यः  
विधुं तुदति व्यथयतीति विधुंतुदौ राहुः तौ रविनखैर्मि-  
तं स्वाधिष्ठितनक्षत्रात्क्रमेण द्वादशविंशतितममभिसं-  
मुखं लत्तयतः खंडमेव खंडलं “ खंडलं भागश्चेदश्च ”  
इति क्षीरस्वामी । न खंडलमखंडलं तन्मंडलं यस्यासौ  
तथा संपूर्णमण्डलश्चंद्रः मुनिभिः सप्तभिर्मितमभिल-  
त्तयति । एतदुक्तं भवति । संपूर्णमंडलश्चंद्रः किल  
पूर्णिमांते भवति तत्र यन्नक्षत्रं तस्मात्सप्तमचंद्रोऽ-

भिलत्तयति । तच्च कृष्णपट्यासन्नं सदा स्यादिति ।  
 द्रुतवहास्रयः आकृतिर्द्वाविंशतिः पट्प्रसिद्धाः जिना-  
 श्वतुर्विंशतिः दन्तिनोष्टौ तेस्तुल्यं नक्षत्रं स्वाधिष्ठितन-  
 क्षत्रात्क्रमेण क्षितिसुताद्भौममारभ्य ग्रहः अभिसंमुखं  
 लत्तयति । भौमादयः क्रमेण त्र्यादीनि लत्तयन्तीत्यर्थः ।  
 अत्र सर्वेषां संमुखलत्तनमेवोक्तम् ॥ ११ ॥

इति सति द्युसदामभिलत्तने यदनु-  
 लत्तनमुक्तमृपित्रजैः ॥ तदुडुपश्चिम-  
 पूर्वविभागयोरनधिकाधिकदोषवि-  
 वक्षया ॥ १२ ॥

पूर्वेस्तु चतुर्णां पृष्ठलत्तनं चतुर्णामभिलत्तनं कथमु-  
 क्तम् । तत्र हेतुमाह ॥ द्रुतविलंबितम् । इतीति । इत्ये-  
 वंविधे द्युसदाग्रहाणामभिलत्तनेसंमुखलत्तनेसतियद-  
 नुलत्तनमृपित्रजैर्मुनिसंधैरुक्तम् । ऋजुमार्गेण सिध्यतो-  
 र्यस्य वक्रेण साधनायोगादिति न्याये सत्यपि तदु-  
 डुपश्चिमपूर्वविभागयोर्नक्षत्रोत्तरपूर्वार्धयोन्याधिकदो-  
 षविवक्षया हेतुना उक्तम् ॥ एतदुक्तं भवति ॥  
 ग्रहनक्षत्राणि प्राङ्मुखानि सन्ति तत्र पुरः प्रेरिता लत्ता  
 अग्रस्थस्य पृष्ठे लगाति पश्चात्प्रेरिता अग्रभागे । अतः  
 अग्रलत्तया लातितनक्षत्रस्य पूर्वार्धे अधिकदोषः उत्त-

राद्धे न्यूनः । पृष्ठलत्तया तु पूर्वाद्धे अल्पः । उत्तरार्धे अधिकः स्यादिति । अनेन हेतुना पृष्ठलत्तनं महर्षिभिरुक्तमित्यर्थः । ग्रंथकृता तु लत्तितनक्षत्रस्य अखिलस्यापि निपिद्धत्वादभिलत्तनमेवोक्तम् ॥ १२ ॥

उडुनि निर्दलिते शुभलत्तया न फलमस्ति बलस्य गलत्तया ॥ अशुभलत्तितमं त्ति तदूढयोर्धनसुतानमुतापकरं परम् ॥ १३ ॥

अथ लत्तायाः फलमाह । द्रुतविलंबितम् । उडुनि नक्षत्रे शुभग्रहलत्तया निर्दलिते सति तस्य नक्षत्रस्य यद्विहितं शुभफलं तन्नास्ति । कया हेतुभूतया बलस्य गलत्तया गलतीति गलत्तस्य भावो गलत्ता तया निर्वलत्वेनेत्यर्थः । अशुभग्रहेण लत्तितं यद्गं नक्षत्रं तत्र उडयोः परिणीतयोर्दपत्योः परमत्यर्थममुतापकरं प्राणतापदं सत् धनसुतानत्ति खादयति अशुभलत्तितनक्षत्रे उद्वाहितयोः प्राणतापो धनसुताश्च नश्यन्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥

विद्धा त्रयोदशभिरुर्ध्वगतैकरेखा  
खार्जूरिकं तदिह शीर्षमतो भचक्रे ॥  
न्यस्तेसहाभिजिति तारकराजभा-

न्वोस्तुल्यर्क्षगम्यगतयोर्नयनार्गले-

यम् ॥ १४ ॥

अथैकार्गलदोषमाहं। वसंततिलका । ऊर्ध्वंगता एका रेखा तिर्यक् स्थिताभिस्त्रयोदशरेखाभिर्विद्धासती सार्जूरिकं नाम चक्रं स्यात् । इहार्स्मिश्चक्रे वक्ष्यमाण शीर्ष-  
नक्षत्रमारभ्य सहाभिजिति भचक्रे न्यस्ते सति सह अ-  
भिजिता वर्तमानं तत्तथा। बहुव्रीहिः प्राग्वत् । तारकरा-  
जभान्वोश्चन्द्रसूर्ययोः कनीनिकायां नक्षत्रे तारकं तारके-  
ति च ' इति विश्वः । तारकाणां राजा तारकराजः । यद्वा  
“ङ्यापो.संज्ञाच्छन्दसोर्वहुलम्” इति द्वस्वः । स्व-  
नक्षत्रस्थितयोश्चन्द्रार्कयोरेकरेखागतयोरियं नयनार्ग-  
ला स्यात् । परस्परदृष्टिपातलक्षण एकार्गलः स्यादि-  
त्यर्थः। कथंभूतयोः तुल्यर्क्षगम्यगतयोः ऋक्षयोर्गम्यगते  
ऋक्षगम्यगते तुल्ये ऋक्षगम्यगते ययोस्तौ तथा। एक-  
तरस्य यावति नक्षत्रगते तावति अन्यस्य गम्ये सती-  
त्यर्थः। अनेन पादवेधः सूचितः । तद्यथा । प्रथमचतुर्थ-  
चरणयोरन्योन्यं किल वेधः तत्रैकतरस्य प्रथमचरण-  
स्थस्य पादमात्रं गतमन्यस्य चतुर्थचरणस्य पादमात्रं  
गम्यं स्यात् । एवं द्वितीयतृतीययोरपि । तथाच नारदेन  
महादोषेषु पठितम् “सार्जूरिकसमाग्निभम्” इति॥ १४

शीर्षभं भवति रूपसंयुता दुष्टयोग-  
मिति रर्धिता सती ॥ शोषिणी यदि  
च सार्द्धविश्वयुङ्मद्गलं गलति सार्ग-  
ले विधौ ॥ १५ ॥

अत्र शीर्षभतो न्यास उक्तस्तच्छीर्षभं तथैकार्गलं  
फलं चाह । रथोद्धता । दुष्टयोगे सति तस्य दुष्ट-  
योगस्य मितिः रूपसंयुता र्यर्धिता सती शीर्षभं  
भवति । शोषमस्याः सा शोषिणी यदि सा शोषिणी  
भवति तदा सार्द्धविश्व १३ । ३० युक्तीर्षभं स्यात् ।  
दुष्टयोगाः व्याघातशूलपरिचव्यतिपातविष्कंभगंडा-  
तिगंडवज्रवैधृताः तत्र व्याघातसंख्या १३ रूपसंयुता  
१४ अर्धिताजातं ७ शीर्षभम् । एवं शूलादिषु तथा गंडो  
दुष्टयोगस्तस्य संख्या १० रूपसंयुता ११ अर्धि-  
ता ५ । ३० इयं शोषिणी जाता अतः सार्धत्रयोद-  
शयुता १९ जातं शीर्षभं मूलः एवमतिगंडेपि १७  
मंगलमिति । सार्गले विधौ सति मंगलं गलति । अर्ग-  
लया वर्तमानः सार्गलः एकार्गलस्तयोश्चंद्राकेयोः  
सतोर्मंगलं नश्यतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

त्यक्त्वा गतेऽप्यस्य परे तु हेतुमुज्झंति  
नक्षत्रमशेषमेव ॥ एकार्गलस्यैव हि सा  
च भर्गी संध्यागतं यद्गलहस्तयंति ॥ १६ ॥



अत्रैकार्गलविषये परमतमाह। इन्द्रवज्रात्यक्त्वोति। परे  
 श्रीपत्यादयस्तुल्यक्षगम्यगतयोरिति। मंगलैष्यस्य हेतुं  
 त्यक्त्वा एकार्गलविद्धनक्षत्रमशेषमेवोज्झंति त्यजंति  
 तेषामयमाशयः। हि यस्मात्कारणात्संध्यागतं संध्यो-  
 दितं नक्षत्रं सर्वमेव गलहस्तयंति परिवर्जयंति। सैव  
 भंगी रचना युक्तिः। एकार्गलस्य गले हस्तेन नो-  
 दयंतीति गलहस्तयंति। कल्यादित्वाणिच्। यद्ध-  
 त्संध्यागतं रविणा पादविद्धमपि सर्वमेव त्यज्यते  
 तद्धदेकार्गलस्थमपीत्यर्थः। “तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वंद्वे”  
 इत्यत्र इतरेतरयोगेपि पृथक्त्वज्ञापकात्सर्वोपि द्वंद्वो  
 विभापया एकवत्स्यात्। अतो गतैष्यस्येत्ये-  
 कत्वम् ॥ १६ ॥

ऋरस्यभार्धांतरमृक्षमेवमनिष्टमित्ये-  
 प विशेषवादः ॥ पापाच्चतुःपंचलवेषु  
 चांद्रं जामित्रमस्मात्खलु पर्यणं-  
 सीत् ॥ १७ ॥

अथ कैश्चित्ऋरपड्भांतरितमृक्षमनिष्टमिति विज्ञे-  
 पितंतचांद्रजामित्रे परिणतमित्याह। उपजातिका।  
 भार्धमंतरं यस्य तत्तथा ऋरस्य पड्भांतरमृक्षमनि-  
 ष्टमेवमिति एष केषांचिद्विशेषवादः विशेषोक्तिः। असौ  
 यस्मात्पापाद्भार्धांतरमृक्षमस्मात्पापाच्चतुःपंचलवेषु च  
 तुःपंचाशदंशेषु चांद्रं जामित्रं पर्यणंसीत् परिण-

मतिस्म । चंद्रजामित्रेण परिणतः नक्षत्रं हि चंद्रनिष्ठं  
प्रतिराशौ नवनवमांशाः तस्माद्भास्वांतरे स्थितः क्रूर-  
श्चंद्राच्चतुःपंचाशदंश एव भवति । अतः परिणामे  
चांद्रजामित्रमेवेदमिति कृत्वा नायं विशेष इति भावः ।  
'यमिरमिनमातांसकृचे' इति ईदृ सगागमश्च ॥५७॥

क्षतादृते दिग्धशरार्दितस्य शस्तं  
मृगस्यामिपमेव मन्ये ॥ क्रूरांघ्रिवे-  
धाय पदं वदंति तेनैव तेषां निजप-  
क्षहानिः ॥ १८ ॥

अथ कैश्चित्पादवेधे युक्तिरुक्ता तामनूद्य दूषयति ।  
उपजातिका । विपादिना दिग्धेन परामृष्टेन शरेण  
अर्दितस्य विद्धस्य मृगस्य आमिपं मांसं क्षतादन्यत्र  
शस्तं तद्वद्यत्र पादे वेधः स एव पादोऽशुभ इति । एव-  
मन्ये केचित्क्रूरांघ्रिवेधाय पदं विषयं वदंति तेनैव पदे-  
न तेषां स्वपक्षहानिः स्यात् ॥ १८ ॥

विश्लेषमायाति यथासुभिःस्वैरेणः  
शरेणैकदिशि क्षतोपि ॥ तथांघ्रिवे-  
धादपि तारकाणां क्रूरस्य नश्येद्वल-  
रूपसंपत् ॥ १९ ॥

एतदेव रूपं वक्ति। उपजातिका। यथैकदिशि एक-  
स्मिन्प्रवेशे शरेणाक्षतो विद्धोपि एणः मृगः स्वैः  
असुभिः प्राणैर्विश्लेषं वियोगमायाति प्राणवियोगं प्रा-  
प्नोतीत्यर्थः। तथा क्रूरस्यांनिवेधात्तारकाणां बलरू-  
पयोः संपन्नश्चेत् । एतदुक्तं भवति । यथा  
विषप्रदिग्धशरेण विद्धमृगस्य मांसं क्षतव्यतिरिक्तं  
शस्तं तद्वद्यस्मिन्पादे पापवेधः स एव दुष्ट इत्यन्ये  
वदन्ति । तदयुक्तम् । यद्यपि विद्धमृगस्य क्षतव्यति-  
रिक्तं मांसं शस्तं तथापि तस्य मृगस्य गतासुत्वमा-  
पन्नस्य बलरूपसंपन्नष्टा एवं तस्य पापवेधनक्षत्रस्या-  
पि । एवं गलेपादुकान्यायेन तेषां स्वपक्षस्था-  
पकपदेनैव स्वहानिरिति । अतो यदुक्तम् “ अशुभ  
विद्धमशेषमुद्धृत्यजेत्” इति तत्सम्यक् ॥ १९ ॥

यदंतगं हर्षणसाध्यशूलगंडव्यतीपा-  
तकवैधृतानाम् ॥ तत्रैव चंद्रोडुनि

चंडमैशमस्त्रं पतेन्मंगलभंगलक्ष्म ॥ २० ॥

अथ चंडायुधदोषमाह । उपजातिका । हर्षणादी-  
नां पण्णां योगानामवसानस्थं यन्नक्षत्रं तस्मिन्नेव  
नक्षत्रे ऐशमीशस्येदमैशं चंडमुग्रमस्त्रं पतेत् चंडी-  
श्चंडास्त्रपातः स्यादित्यर्थः । तत्फलमाह । मंगलेति ।  
मंगलानां भंगस्तदेव लक्ष्म यस्य तत्तथा मंगलभंज-  
कमित्यर्थः ॥ २० ॥

गङ्गुविवव्यातिपुपट्शरत्रिनिन्दपट्का  
घटिकाः क्रमेण ॥ द्व्यमां त्यजेत्पा-  
रिघमिन्दुभान्वोः पर्वण्यतीति दिन-  
सप्तकं च ॥ २१ ॥

अथ चंडायुधसंभवार्थं योगनिर्देशात्तत्साहचर्येण  
दुष्टयोगानां वर्ज्यविभागांस्तत्प्रसंगेन ग्रहणदुष्टकालं  
चाह । उपजातिका । गं गंडः शू शूलः वि विष्कं-  
भः व वज्रः व्या व्याघातः अति अतिगंडः एतेषु योगेषु  
तेषामादिमाः क्रमेण पट्शरत्रिनिन्दपट्काः ६ । ५ ।  
३।३ । ९ । ६ घटिकास्त्यजेत् । अत्राद्यक्षरग्रहणेनैव  
नामग्रहणम् । यथा बृहज्जातके “ शकुबुकुशुचराद्या  
वृद्धितो वीर्यवंतः ” इति परिघस्येदं पारिघमादिमं द्व्यंश  
मर्द्धं त्यजेत् । कुत्रचिद्व्यंशमिति पाठः । स तु बहुवा-  
क्यविरोधान्नादरणीयः । इन्दुभान्वोः पर्वण्यतीति सति  
चंद्रार्कग्रहणानंतरं दिनसप्तकं त्यजेत् ॥ २१ ॥ ६॥

यस्मिन्नक्षेत्रे वीक्ष्यते संहिकेयो भेद-  
स्ताराखेटयोर्यत्र वा स्यात् ॥ आपण्मां-  
सं तत्र लग्नेन्दुभाजि भ्राजिष्णु स्या-  
न्नो शुभं कर्म किञ्चित् ॥ २२ ॥

अथ ग्रहणादिसंवधिनक्षत्रदोषमाह । शालिनी । यस्मि-

नक्षत्रे संहिकेयो राहुदृश्यते ग्रहणं भवेदित्यर्थः ।  
 ग्रहणं सर्वोत्पातानामुपलक्षणं यदापि च त्रिविधोद्धृतदो-  
 पितमित्युक्तत्वात् । वा इत्यथवा तारखेटयोर्भौमादि-  
 प्वन्यतमखेटयोर्भेदयोगः स्यात्तत्र नक्षत्रे आपण्मासं  
 पण्मासपर्यंतं लग्नेदुभाजि लग्नेदू भजतीति लग्नेदुभा-  
 क्तिस्मिंल्लग्नदुभाजि लग्नस्थे चंद्रे वा सतीत्यर्थः । किञ्चि  
 च्छुभं कर्म भ्राजिष्णु भ्राजते तद्भ्राजिष्णु शोभमानं  
 न स्यात् । तद्यथा । अश्विन्यां ग्रहणे जाते सत्र्यंशत्र-  
 योदशभागांतः मेपलग्ने सति अश्विनीलग्नस्थं स्यात् ।  
 एवं भरण्यादिष्वपि । चंद्रस्थनक्षत्रमिति प्रसिद्धमाहुः । उक्तं  
 च व्यवहारतत्त्वे “उत्पातैस्त्रिविधैर्हतं ग्रहणं चामास  
 पङ्क्तं तथा” इति ॥ २२ ॥

उत्पातपापग्रहमुक्तमृक्षं यदीदुराक्र-  
 म्य पुनर्भुनक्ति ॥ तदा तदहं सक-  
 लेषु कर्मसु त्यजेत्समक्रांतितनू र-  
 वीन्द्रोः ॥ २३ ॥

अथोत्पातादिदोषमुक्तनक्षत्रस्य शुद्धिमाह । उपजा-  
 तिका । उत्पातास्त्रिविधाः पापग्रहा रविभौमादयस्तै-  
 र्मुक्तं तदुत्पन्नदोषैस्त्यक्तं यन्नक्षत्रं तत्तदा एषु सकले-  
 षु शुभेषु कर्मसु अहं योग्यं स्यात्तदा कदा यदि  
 इंदुः आक्रम्य पुनर्भुनक्ति दोषत्यागानंतरम् चंद्रभोगे

जाते सति द्वितीयचंद्रभोगे शुद्धं भवतीत्यर्थः । अथै-  
तत्प्रसंगेन पातदोषमाह । त्यजेदिति । रवीन्द्रोः समक्रांति-  
तनू सकले शुभकर्मसु त्यजेत् । क्रांत्योस्तनू स्वरूपे  
समे च ते क्रांतितनू च समक्रांतितनू चंद्रार्कयोर्लबाद्ये  
क्रांती यावत्समे तावत्समे तावदित्यर्थः ॥ २३ ॥

त्रिभागशेषे ध्रुवनाम्नि चैन्द्रे त्र्यंशे गते  
संप्रति संभवोऽस्य ॥ मानार्धयोगा-  
धिकमिन्दुभान्वोः क्रांत्यंतरं चेन्न त-  
देष दोषः ॥ २४ ॥

अथ तत्संभवकालमाह । उपजातिका । ध्रुवनामा  
द्वादशो योगस्तस्मिन्निभागशेषे तृतीयांशावशिष्टे स-  
ति ऐन्द्रे पङ्क्तिंशे योगे त्र्यंशे गते च सति । चकारो वार्थे ।  
अस्य क्रांतिसाम्यलक्षणस्य संप्रतीदानीं संभवः स्या-  
त् । तदासन्ने काले भवेदित्यर्थः । ध्रुवे व्यतीपाताख्यः  
ऐन्द्रे वैधृताख्य इति ग्रंथनिर्माणकाले द्वादश अयनांशा  
आसन् । तदभिप्रायेणेदमुक्तं ततो यथा यथा अयनां-  
शा अधिकास्तथा तथा तयोर्योगयोर्न्यूनता चित्या ।  
तदानयनं श्रीगुरुणा केशवेनोक्तं “त्रिघ्रायनांशा नख-  
भाजितास्तद्धीनाश्चसार्धत्रिभुवोद्रिपक्षाः । तत्तुल्ययुत्यो-  
र्गतयोर्विक्रयः पातो व्यतीपातकवैधृताख्यः ।” इति  
चेदिन्दुभान्वोः क्रांत्यंतरमानार्धयोगाधिकं तदा एष

दोषो न स्यात् । चंद्रार्कयोः क्रांत्यंतरं यावन्मानैक्या-  
द्यावन्यूनं तावेदेव चायं दोष इत्यर्थः । तदानयनं ग्रंथ-  
कृता करणकंठीरवे प्रतिपादितं दिङ्मात्रमत्रोक्तम् २४  
स्फुरदद्रूपणभूपणक्रांतयो यदि भवं-  
ति मृगांकमृगीदृशः ॥ करमवाप्य  
वरः सुतनोस्तदा शुभरसं भरसंभृ-  
तमश्नुते ॥ २५ ॥

अथ नक्षत्रशुद्धेः प्राशस्त्यमाहाद्रुतविलंबितम् । मृगां-  
कस्य मृगीदृक् तस्या मृगांकमृगीदृशः चंद्रनक्षत्रस्य  
यदि स्फुरदद्रूपणभूपणक्रांतयः स्युः । अद्रूपणं पापवे-  
धादिराहित्यं भूपणं शुभदृष्ट्यादिकं क्रांतिः प्रकाशः  
अक्षीणत्वादि । स्फुरत्स्फूर्ती । स्फुरन्ति ताः स्फुरन्त्यः परि-  
पूर्णाः ताश्च ता अद्रूपणभूपणक्रांतयश्च तास्तथा तदा  
सुतनोर्वद्वाः करमवाप्य करग्रहणं कृत्वा वरः भरेण संभृ-  
तं परिपूर्णं शुभरसं शुभो भोगमश्नुते प्राप्नोति । दोषरहित  
नक्षत्रे पाणिग्रहकृद्भरः अतिशुभं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २५ ॥

इति विवाहवृन्दावने नक्षत्रशुद्धिवर्ण-  
नं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्म-  
जगणेशविरचितायां विवाहवृन्दावनटीकायां विवाहदी-  
पिकायां नक्षत्रशुद्धिप्रकरणवर्णनं नाम प्रथमोऽध्यायः १

अथ कालमीमांसाध्यायः ॥ जन्म-  
लग्नमिदमंगमंगिनां मेनिरे मन इती-  
न्दुमन्दिरम् ॥ सौहृदं हि मनसोर्न दे-  
हयोर्मेलकस्तदयमिदुगेहयोः ॥ १ ॥

अथ कालमीमांसाध्यायो व्याख्यायते । नक्षत्रशुद्धे-  
र्मुख्यत्वादादौ तामभिधायेदानीं राशिघटितं विवक्षु-  
स्तत्प्रसंगेन तावत्कालमीमांसा निरूप्यते । तत्रादौ  
जन्म राशयोरेव घटितावलोकने युक्तिमाह । रथोद्धता  
अंगमस्तीत्येषां मंगिनः तेषां शरीरिणामिदं प्रसिद्धं  
जन्मलग्नमंगं शरीरं पूर्वमुनयो मेनिरे मन्यं-  
ते स्म । इन्दुमंदिरं चन्द्रगृहं जन्मानि यश्चंद्रराशिः स मन  
इति मेनिरे । तथा चाहुः शौनकादयः “ शरीरं लग्नव-  
शात्सुखदुःखं मानसं शशांकवशात् ” इति । हि  
यस्मात्कारणात्सौहृदं मित्रत्वं मनसोरेव न तु देहयोः  
नकुलसर्पयोरपि । सौमनस्येऽसति सहवासित्वाददर्शना-  
त् । तस्मात्कारणादयं मेलकः इदुगेहयोश्चंद्रराशयोरेव  
स्यात् । जन्मराशयोरेव घटितयोगो न तु जन्मलग्नयो-  
रिति । सुष्ठु हृदयं यस्य सुष्ठु च तद्धृदयं चेति वा तस्य  
भावः सौहृदम् । भावे अणु हृदयस्य हृदादेशः पूर्व-  
पदादेर्वृद्धिः । यद्वा सुष्ठु हृदयं यस्यासौ सुहृत् “ सुहृ-  
दुहृदौ मित्रामित्रयोः ” इति निपातः । सुष्ठु च तद्धृ-



चेति वा तस्य भावरुतथा । ननु “ हृद्भगसिंघ्वन्ते पूर्व-  
पदस्य च ” इति पूर्वोत्तरपदाद्योर्वृद्ध्या सौहार्दमित्येव  
स्यात् । छंदसितु “ महते सौभगाय ” इत्यादयः प्रयोगाश्छं-  
दस्येव । तत्र सर्वविधीनां विकल्पविधानादिति प्रसा-  
दकारादयः । यत्तु श्रीभागवते “ न तत्र सौहृदं धर्मः संतो-  
षो भूतसौहृदम् ” इत्यादिषु दृश्यते । तदपि संदिग्धं,  
पुराणानामपि च्छंदसत्वात् । विशेषेण श्रीभागवतस्य ।  
अतो भाषायां सौहृदमिति प्रयोगः कथं युज्यते ।  
यदि तु ग्रंथकृता प्रयुक्तस्तर्हि कथंचिद्भूतिमात्रं चिंत्य-  
ते । “ ओर्गुणः ” इत्यनेन संज्ञापूर्वकस्य ज्ञापितत्वात्  
उभयपदवृद्धेरनित्यत्वमिति । एवं वसुभे चलसौहृदय-  
स्त्रियो द्वेष्ट्या इति वराहोक्तमपि निवेदितव्यम् ॥ १ ॥

चंद्रराशिवशमेव सौहृदं सूक्ष्मयोर-  
पि न किं नवांशयोः ॥ एवमस्तु म-  
करांशगे विधौ कर्कटेऽपि किमु नो-  
त्तरायणम् ॥ २ ॥

ननु चंद्रराश्योर्मेलकस्तर्हि तत्रवांशयोरपि कथन्न  
मेलक इत्याह—रथोद्धता । सौहृदं मित्रत्वं चंद्रराशि-  
वशं चंद्रराश्यधीनमेवेति यदुक्तं तत्सूक्ष्मयोर्नवांशयो-  
रपि कथं न स्यात् । जन्मनि यद्राशौ चंद्रः स जन्मरा-  
शिरित्युच्यते तयोश्चेन्मेलको विलोक्यते तर्हि तदंत-

गतयोः सूक्ष्मयोश्चंद्रनवांशयोरपि कथं न मेलक इ-  
त्याक्षेपः । अपिः समुच्चये । अत्रोत्तरमा एवमस्त्विति ।  
चेदित्यध्याहारः । एवं चेदस्तु भवतु तर्हि कर्कटे  
कर्कटराशिस्थे विधौ मकरांशगे मकरनवांशस्थिते  
सति उत्तरायणं न स्यात् । अयनं हि राशिवशादेव न  
तु नवांशवशादिति प्रसिद्धम् । अतो राश्यारेव मेलक  
इति ॥ २ ॥

मासपङ्कमयनं च दक्षिणादित्य ए-  
ति तदिति श्रुतिर्जगौ ॥ मूलसंक्रम-  
समां विवस्वतः स्वस्वभंगिमृतवोऽ  
पि विभ्रति ॥ ३ ॥

अथ राशिवशादेवायनमित्यत्र प्रमाणमाह—यस्मा-  
त्कारणान्मासपङ्कं पण्मासपर्यंतं दक्षिणा दक्षिणस्यां  
दिशि “दक्षिणादाच्च, तद्धितश्चासर्वविभक्तिः” इत्यव्ययम्  
आदित्यः । सूर्यः एति गच्छति तत्तस्मात्कारणा-  
दिति एवंविधमयनं श्रुतिर्जगौ जगाद । यस्मात्कारणा-  
त्सूर्यो मासपङ्कं दक्षिणां दिशं गच्छति तस्मात्तत्प्रमाण-  
मयनं श्रुतिर्जगादेत्यर्थः । एवं सयुक्तिकमागमप्रमाण-  
मुक्त्वा प्रमाणांतरमाह—मूलसंक्रमेति । नवांशापेक्षया  
मूलराशिविवस्वतः सूर्यस्य मूलसंक्रमो राशिसंक्रांतिः  
तत्समां तत्सदृशीम् ऋतवो वसंतादयोपि स्वस्वभंगिं

स्वीयस्वीयरचनां चिह्नमिति यावत्। विभ्रति धारयन्ति।  
वसन्ते पुष्पोद्गमादि ग्रीष्मे निद्रायादि इत्यादीनि  
यान्यृतुचिह्नानि तानि रविराशिसंक्रमवशेषु तत्तद्वतुषु  
प्रत्यक्षं दृश्यन्ते । अतो राशिवशादेव मेलक इति  
सिद्धम् ॥ ३ ॥

किं दिनर्क्षविरहे करग्रहो नेष्यते तदु-  
दयक्षणेऽपि ॥ स्थूलमेवमखिलं ज-  
गत्फलं तद्विशेषयति सूक्ष्मतागतिः ४

अथ युक्त्यन्तरमाह—रथोद्धता । दिनर्क्षस्य दिवसन-  
क्षत्रस्य विरहे वियोगे सति करग्रहनक्षत्रालाभे सती-  
त्यर्थः । तस्य करग्रहनक्षत्रस्य उदये क्षणेषु मुहूर्तेष्व-  
पि करग्रहः किन्नेष्यते । “धिष्ण्ये तस्मिंस्तस्य भस्यो-  
दयो वा” इति । “यस्मिन्धिष्ण्ये यच्च कर्मोपदिष्टं तदैवत्ये  
तन्मुहूर्तेऽपि कार्यम्” इति च । कथितेऽपि दिननक्षत्राला-  
भे सति तदुदये तन्मुहूर्ते वा करग्रहो महद्भिः कथं नेष्यते  
अपि तु नेष्यत इत्यर्थः । अतोऽखिलं समस्तं जगतः  
फलं स्थूलमेवमिति । एवं च तर्हि सूक्ष्मफलस्य गति-  
माह—तद्विशेषयतीति । तत्र स्थूलफलं सूक्ष्मतागतिः  
सूक्ष्मफलस्य गतिः विशेषयति विशेषं करोति । सू-  
क्ष्मफलं स्थूलफलस्य सविशेषतां करोतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अव्यवस्थितिरिति प्रतिवेलं तत्तदूह-  
नविकल्पसमूहैः ॥ स्थूलमप्यनुसरंति  
कृतीन्द्राः केवलं न रमणीयमणीयः ५

तर्हि सूक्ष्ममेव फलं प्रमाणं कथं न स्यादित्याशं-  
कायासाह-स्वागता । प्रतिवेलं तत्तदूहनवि-  
कल्पसमूहैः अव्यवस्थितिः स्यादिति हेतोः मुनीन्द्राः  
स्थूलमप्यनुसरंति । केवलमणीयो न रमणीय-  
मित्यन्वयः । वेलं वेलं प्रतीति प्रतिवेलं वीप्सार्थेऽव्य-  
यीभावः । तस्यास्तस्यावेलाया ऊहनं वितर्कस्तस्य  
विकल्पास्तुत्यादयः तेषां समूहास्तैः कृत्वा अव्यव-  
स्थितिरव्यवस्था स्यादिति हेतोर्मुनीन्द्रा गगादयः  
स्थूलं फलं मासतिथ्यादिकमप्यनुसरंति तत्र प्रवर्त-  
ते । केवलमणीयः सूक्ष्मतरं फलं न रमणीयं स्यात् ।  
अतिशयितमणु अणीयः सूक्ष्मफलस्यानवस्थाना-  
त्स्थूलेष्वपि प्रवर्तते इति भावः । एतदपि स्पष्ट-  
यिष्यति ॥ ५ ॥

भिन्नभिन्नफलभागभुवि भूयानेकधि-  
ष्यदिनजोऽपि जनोऽयम् ॥ सूक्ष्मता-  
ऽपि ननु तेन गरिष्ठा सा च मूलमनु-  
रुध्य विधेया ॥ ६ ॥

एवं चेत्तर्हि सूक्ष्मफलमकिञ्चित्स्यात्तत्राह—स्वागतम् । भुवि पृथिव्यां वर्तमानः अयं भूयान् बहुतरो जनः । जातावेकवचनम् । एकधिष्ण्यदिनजोऽपि एकनक्षत्रतिथिजातोऽपि भिन्नफलभाक् विसदृशफलभागी भवतीति प्रत्यक्षं तेन कारणेन सूक्ष्मतापि गरिष्ठा गरीयसी स्यात् । अपिः समुच्चये । तर्हि स्थूलं त्याज्यं स्यात्तत्राह । सा चेति । सा च सूक्ष्मता मूलं स्थूलम् अनुरुध्य अनुसृत्य विधेया स्यात् । स्थूलानुसारेण सूक्ष्मतापि ग्राह्येत्यर्थः ॥ ६ ॥

सूक्ष्मो नवांशाद्द्विरसांश एव त्रिंशल्लवस्तल्लवतोऽपि सूक्ष्मः ॥ ततोऽपि लिप्तेत्यवलिप्तवाचां दृगेतु कस्यां नियतौ समस्याम् ॥ ७ ॥

कथं स्थूलमनुरुध्य सूक्ष्मता ग्राह्येत्येतदर्थं सूक्ष्मताया अनवस्थानं प्रकटयति—उपजातिका । ‘सूक्ष्मयोरपि न किं नवांशयोः’ इति नवांशः किल सूक्ष्म उक्तः । नवांशादपि द्विरसांशो द्वादशांशः सूक्ष्मः । द्वौ च रसाश्च तैः अंशः आदौ व्यंशः ततस्तै रसांश इति कृत्वा द्वादशांश एव सिद्धः । यथा “सूर्यनन्दैर्हृतं तत्स्यादायुर्मासादिकं स्फुटम्” इत्यादिषु सूर्यहृतं सन्नन्दहृतमिति व्याख्यायते न तु द्वादशाधिकनवशतेस्त-

द्वदत्रापि । अत एव बृहज्जातके । 'चंद्रोपगाद्विरसभा-  
गसमानरूपम्' । इति । तल्लवतस्तस्माद्वादशांशादपि त्रि-  
शल्लवार्धशांशः सूक्ष्मः ततोपि लिप्ता कला सूक्ष्मा इती-  
त्यनेन प्रकारेण अवलिप्तवाचाम् । अवलिप्ता उपलिप्ता  
वाक् येषां ते तथा । एवमुक्तवतामित्यर्थः । पुरुषाणां  
दृक् दृष्टिः कस्यां नियतौ समस्यां समाधानमेतु  
गच्छतु । समसनं समस्या क्यप् । एवं सूक्ष्ममुक्तवतां दृ-  
ष्टेर्न कुत्राप्यवसानमस्ति । सूक्ष्मस्य अपर्यवसा-  
नादिति भावः ॥ ७ ॥

अत्यंतसूक्ष्मः स किलैकदेशो येना-  
खिलानां भिदुरा फलद्विः ॥ नास्मा-  
दृशां दृग्विषयः स तस्मान्मूलानुकू-  
ला व्यवहारसिद्धिः ॥ ८ ॥

एवं सूक्ष्मकालानां कलने सति सिद्धांतमाह—इंद्र-  
वज्रा । स किल कालस्यैकदेशः अत्यंतसूक्ष्मः अति-  
दुर्लक्ष्यः । येन कृत्वाखिलानां प्राणिनां फलद्विः फल-  
संपद्विदुरा भेदेन शाला स्यात् । भिन्नभिन्नेति यावत् ।  
“विदिभिदिच्छिदेः कुरच्” स सूक्ष्मकालः अस्मादृशां  
वयमिव दृश्यंते तेऽस्मादृशः तेषां चर्मचक्षुषां दृग्वि-  
षयो दृष्टिगोचरो न स्यात् । दुर्ज्ञेय इति यावत् । तथाच  
नारदः “स्वस्थे नरे सुखासीने यावत्स्पंदति लोचनम् ।

तस्य त्रिंशत्तमो भागस्तत्परः परिकीर्तितः॥तत्पराच्छ-  
 तशो भागश्चुटिरित्यभिधीयते । चुटेः सहस्रभागो  
 यो लग्नकालः स उच्यते ॥ देवोऽपि तं न जानोति  
 किं पुनः प्राकृतो जनः ॥ सकालोऽप्यन्यकालो वा  
 पूर्वकर्मवशाद्भवेत्॥निमित्तमात्रं दैवज्ञस्तद्वशाच्च शुभा-  
 शुभम् ॥”इति सिद्धांतयति । तस्मादिति । तस्मात्सू-  
 क्ष्मकालस्याद्विषयत्वात् सर्वजनानां व्यवहारसिद्धिः  
 मूलानुकूला स्यात् । मूलस्यानुकूला मूलानुकूला स्थू-  
 लानुसारिणी वत्सरमारभ्य नवांशपर्यंतमित्यर्थः ।  
 अस्मत्साध्यत्वात् ॥ ८ ॥

इति सति यदि मूले सूक्ष्मभावांश-  
 लब्धिस्तदखिलमपि सिद्धं नास्ति  
 चेन्मूलसंपत् ॥ तदुभयलवनांशो  
 दुर्गमत्वाद्दणूनां परिणतिरिति रूढा  
 कालमीमांसयानः ॥ ९ ॥

अथानयोः स्थूलसूक्ष्मयोः समाधानमाह-मालि-  
 नी । इत्यनंतरोक्ते सति मूले स्थूलमध्ये यदि सूक्ष्म-  
 भावांशलब्धिर्लाभश्चेत्स्यात् तत्तदाखिलं सर्वमपि  
 सिद्धं फलितं स्यात् । एवं स्थूलं तदंतर्गतं सूक्ष्मं च  
 विलोकनीयमित्युक्तम् । अन्यथा बाधकमाह । नास्तीति ।

चेन्मूलं संपत्स्थूललब्धिर्नास्ति तदा तदुभयलवनाशः  
 स्यात् । फलजातस्योभयलवौ स्थूलसूक्ष्मलक्षणौ  
 यौ विभागौ तयोर्द्वयोरपि नाशः स्यात् । कस्मात् ।  
 अणूनामतिसूक्ष्माणां दुर्गमत्वात् ॥ दुःखेन गम्यन्ते  
 क्षायन्ते तानि दुर्गमाणि तेषां भावस्तत्त्वं तस्मात् ।  
 ततो नवांशपर्यंतं सूक्ष्मकालस्य मनुष्यगम्यत्वा-  
 त्तत्पर्यंतं स्थूलांतर्गतं सूक्ष्मं विचारणीयमिति सिद्धम्  
 अतो नवांशयोरपि मेलकः स्यादिति । नवांशमेल-  
 कस्य जने व्यवहारो नास्तीत्येतत्सप्रपञ्चं वक्ष्यति ।  
 एतदुक्तं मया मनसि समाहितमित्याह । परिणतिरि-  
 ति। इतीयं कालमीमांसया कालविचारणेन नोऽस्माकं  
 परिणतिः रूढा स्फुरिता । कालस्य मीमांसा विचारणम्  
 मानिति स्वार्थे सन् ततः प्रत्ययांताद्भावे अच् । काल-  
 विचारणे क्रियमाणे अस्माकमयं बुद्धिपरिणामो रूढ  
 इत्यर्थः ॥ ९ ॥

इति विवाहवृंदावने कालमीमांसा-  
 ध्यायो द्वितीयः ॥ २ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्म-  
 जगणेशविरचितायां विवाहवृंदावनटीकायां विवाहदी-  
 पिकायां कालमीमांसाध्यायो द्वितीयः ॥ २ ॥



## अथ मेलकाध्यायः ॥

व्यये न वित्तं न तपस्यपत्यं नायु-  
 द्विषत्येव वधूवराणाम् ॥ द्विद्वादशः  
 पञ्चनवाष्टपष्ठो जन्मर्क्षयोः सख्य-  
 विधिर्न दृष्टः ॥ १ ॥

- एवं प्रासंगिकं कालमीमांसनं निरूप्य अधुना प्रकृतं  
 मेलकाध्यायं निरूपयति । तत्रादौ राशिमेलकं सोपप-  
 त्तिकमाह—उपजातिकावधूवराणां स्त्रीपुरुषाणां जन्म-  
 र्क्षयोर्जन्मनः सकाशादन्यराशयोर्द्विद्वादशः सख्यविधिः  
 मैत्रविधिर्न दृष्टः न लक्षितः पूर्वमुनिभिः। द्वौ च दश च  
 द्विद्वादश तयोः पूरणो द्विद्वादशः एकस्य राशेः सका-  
 शादन्यराशिर्द्वितीयस्तस्मादप्यन्यो द्वादश इत्यर्थः ।  
 अत्र हेतुः । व्यये न वित्तमिति । यतो व्यये सति  
 वित्तं न स्यात् । व्ययो द्वादशस्थानं वित्तं द्वितीयं यत्र  
 व्ययस्तत्र कुतो धनमिति । अनेनैवात्र दरिद्रत्वमिति  
 फलं च सूचितं भवति। एवं तपसत्यादि हेतुना पञ्चन-  
 वेत्यादि । पञ्च च नव च अष्ट च षड् पञ्चनवाष्टपट्  
 तेषां पूरणः पञ्चनवाष्टपष्ठः पञ्चमो नवमोऽष्टमःषष्ठ इत्य-  
 र्थः। तपसि सति अपत्यं न स्यात् । तत्र ब्रह्मचर्यादि-  
 नियमविधानात् । तपो नवमंस्थानमपत्यं पञ्चमम्

अतो न पंचमनवमः सख्यविधिः । अत्रानपत्यतेति  
फलमपि सूचितम् । द्विपति शत्रौ सति आयुर्नैव  
स्यात् । शत्रुसान्निध्ये कथमायुरिति शत्रुः पष्ठमायुर-  
ष्टमम् । अतोष्टमपष्ठो न सख्यविधिः । अत्र नायुष्य-  
मिति फलं च । अर्थाच्छेषाश्चतुर्दशमतृतीयैकादशो-  
भयसप्तमाः शुभाः एकराशित्वे विशेषं वक्ष्यति ॥ १ ॥

दृश्यते सुहृदभिन्नपतित्वं क्षेत्रयोस्त-  
दखिलेष्वपि मेलः ॥ भीरुभादचल-  
पंचतृतीयाशोऽकवैरविपदेव रतारा ॥ २ ॥

अथास्यापवादं तारामैत्रं चाह— स्वागता । यदा  
क्षेत्रयो राश्योः सुहृदभिन्नपतित्वं दृश्यते तत्तदा अ-  
खिलेषु द्विर्द्वादशादिषु अपि मेलः सख्यं स्यात् मेलनं  
मेलः किं पुनः शुभेषु चतुर्थदशमादिषु सुहृदौ अभिन्नौ  
च सुहृदभिन्नौ तौ च तौ पती च तयोर्भावस्तत्त्वं पत्योः  
सुहृत्त्वमेकत्वं चेत्यर्थः । राश्यधिपांस्तत्सुहृत्त्वं च व-  
क्ष्यति ॥ तथा चोक्तम् । “ न वर्णशुद्धिर्न गणो न  
योनिर्द्विर्द्वादशे चैव पट्टपट्टकेऽपि । वरेऽपि दूरे यदि वा  
त्रिकोणे मैत्री यदि स्याच्छुभदो विवाहः ” इति । अथ  
तारामैत्रं भीरुभादिति । भीरुः स्त्री । “ विशेषास्त्वंगना  
भीरुः कामिनी वामलोचना ” इत्यभिधानात् । तस्या  
नक्षत्रमारभ्य वरतारा वरनक्षत्रम् । अचलपंचतृतीयाक-

मेण शोकवैरविपदे स्यात् । द्वैकत्वे कृत्वम् ।  
 अचलाश्च पंच च त्रयश्च तेषां पूरणी तथा सप्तमी पंच-  
 मी तृतीया चेत्यर्थः । सप्तमी शोकाय पंचमी वैराय  
 तृतीया विपदे इति एतत्प्रथमनवके एवं पुनर्द्वितीये  
 तृतीयेऽपि । केचिदेवमुभयभाभ्यामपीच्छन्ति । तथा  
 चाहुः “पुंसुक्षाद्गणयेद्यावत्कन्यक्षं कन्यभादपि ॥ वरभं  
 नवहृच्छेपं ताराः संति परस्परम्” इति । एतदन्यदेशेषु  
 प्रसिद्धं ग्रंथकृतोक्तं तत्तद्देश एव ॥ २ ॥

नक्षत्रमेकं यदि भिन्नराश्याभि-  
 न्नराश्यायदि भिन्नमृक्षम् ॥ प्रीतिस्त-  
 दानां निविडानृनार्योश्चेत्कृत्तिकारो  
 हिणिवन्ननाडी ॥ ३ ॥

अथैकनक्षत्रे एकराशौ च विशेषमाह-उपजातिका ।  
 यदि नृनार्योर्वरवध्वोः भिन्नराश्याः सतोर्नक्षत्रमेकं भवति  
 अथवा अभिन्नराश्याः एकराश्यापि भिन्नमृक्षं स्यात् ।  
 अपि वार्थे । तदा निविडा अतिशयिता नृनार्योः  
 प्रीतिः स्यात्तत्र नाडीदोषोपि नास्तीत्याह-चेत्कृत्ति-  
 केति । चेत्कृत्तिकारोहिणिवत्तदा नाडी न स्यात् ।  
 यथा कृत्तिकारोहिण्योरेकनाडीत्वोपि एकराशौ सति  
 नाडीदोषो न स्यादित्यर्थः । अनेनेव गणदोषोपि  
 निरस्तः । एवं शततारकापूर्वाभाद्रपदादिष्वपि ।  
 तथाच गर्गः “एकराशिं विना नाडीयोगमादौ विवर्ज-

येत् । न दोषस्त्वेकराशिस्थे भूकूटन्येषु मृत्युदः" इति ।  
 भृगुरपि "दंपत्योरेकराशिश्चेत्पृथगृक्षं यदा भवेत् ।  
 वसिष्ठोक्तो विवाहः स्याद्गणनाडी न चितयेत्" इति ३॥

पराशरः प्राह नवांशभेदादेकक्षरा-  
 श्योरपि सौमनस्यम् ॥ एकांशक-  
 त्वेपि वसिष्ठशिष्यो नैकत्रं पिंडे कि-  
 ल नाडिवेधः ॥ ४ ॥

एतद्बहुमतमुक्त्वा मतांतरमाह—उपजातिका। एकौ  
 च तौ ऋक्षराशी च तौ तथा एकनक्षत्रे एकराशौ  
 सत्यपीति । अपिः संभावनायाम् । नवांशभेदान्नक्ष-  
 त्रचरणभेदात्सौमनस्यं सुहृत्त्वं पराशरः प्राह एक-  
 नक्षत्रे एकराशावशुभमिति बहुमतं प्रागुक्तं तत्रापि  
 चरणभेदे सति शुभमिति पराशरमतमित्यर्थः । तत्रा-  
 प्येकांशत्वे चरणैकत्वेपि वसिष्ठशिष्यः । सौमनस्यं  
 प्राह—एतदूपायिष्यति । अत्र नक्षत्रैक्ये नाडीदोषो ना-  
 स्तीत्याह । नैकत्रेति । द्वयोरपि नक्षत्रयोरेकत्र एक-  
 स्मिन् स्थाने पिंडे गोलके सति किल निश्चयेन ना-  
 डिवेधो न स्यात् । द्वयोर्व्यवहितयोः सत्येव वेधः  
 स्यादेकत्वे तु न स्यादिति भावः । नाडिरितीका-  
 रांतः "कृदिकारादक्तिनः" इति जीवंतोप्यस्ति ॥ ४ ॥

नाग्निर्दहत्यात्मतनुं यथाहि द्रष्टा

स्वदृष्टेर्नहि दर्शनीयः ॥ एकांशक-  
त्वेपि समप्रभावान्न भर्तृभार्याव्य-  
वहारसिद्धिः ॥ ५ ॥

अथ नाडीदोषाभावेऽत्र दृष्टान्तमाह-उपजाति-  
का । यथाहि। अग्निः आत्मतनुं स्वमूर्तिं तेजोरूपां न  
दहति अपि च दर्शनीयो रमणीयः पुरुषः स्वदृष्टेर्द्रष्टा  
न स्यात् । कर्मणि पृष्ठी । चक्षुष्मानपि द्रष्टा स्वदृष्टिं  
न पश्यतीति । तथा एकत्र पिंडे नाडीवेधो न स्यादि-  
ति पूर्वणान्वयः । अथैकांशकत्वे दोषमाह । एकांशकत्वे  
इति । एकांशकत्वे चरणैकत्वे सति तु भर्तृभार्याव्य-  
वहारसिद्धिर्न स्यात् । कुतः समप्रभावात् समानसा-  
मर्थ्यात् । अयं भावः । नृनार्योरेकांशकत्वात्समानसा-  
मर्थ्यं तस्मिन् सति अयं भर्ता तदधीनेयं भार्येति  
सर्वव्यवहारो गार्हस्थ्य्यादिरूपो न संभवतीति अत  
एकांशकत्वे सौमनस्यं न स्यादिति भावः ॥ ५ ॥

रुद्रार्यमंद्रवरुणंद्वयमश्विनी च विश्वा-  
ग्निवायुफणिनां युगमंत्यभं च ॥  
शेषाणि चेति नवकत्रयमेकयाते  
जन्मोडुनी वरवधूनिधनाय नाडी ॥ ६ ॥

अथ नाडीवेधमाह-वसंततिलका । रुद्र आर्द्रा  
अर्यमा उत्तराफाल्गुनी इंद्रो ज्येष्ठा वरुणः शततारका

एतानि चत्वार्यारभ्य प्रत्येकं द्वयमेवमष्टौ अश्विनी  
च एकाकिनी एवमेको नवकः विश्वे उत्तराषाढा अग्निः  
कृत्तिका वायुः स्वाती फणी आश्लेषा एतदारभ्य  
प्रत्येकं युगं युग्ममेवमष्टौ । अंत्यभं रेवती च एका-  
किनी एवं द्वितीयो नवकः । शेषाणि पूर्वाफाल्गुनी चित्रा  
धनिष्ठा भरणी मृग पूर्वाषाढानुराधा पुष्योत्तराभा-  
द्रपदाः अयं तृतीयो नवकः । इति नवकत्रयं स्यात् । वधू-  
वरयोर्जन्मोद्भूनी जन्मनक्षत्रे एकपाते एकस्मिन्नवकः  
मध्ये प्राप्ते तदा नाडी स्यात् । किमर्थं वरवधूनिधनाय  
द्वयोरेकनाड्यां मृत्युः स्यादित्यर्थः । अत्र रुद्रादिदेवता  
निर्देशेन तन्नक्षत्रेणाद्रादि गृह्यते । लोके हि स्वामिश-  
ब्दं सेवके प्रयुजाना दृश्यन्ते अतो देवताशब्दस्तन्न-  
क्षत्रतिथ्यादिपूषचर्यते । तथाविधवृद्धप्रयोगदर्शनाच्च ।  
“ नागोद्वादशनाडीभिर्दिक्पंचदशभिस्तथा ॥ भूतो-  
द्वादशनाडीभिर्दूषयत्युत्तरांतिथिम् । ” इत्यादिनागः  
पंचमी दिग्दशमी भूतश्चतुर्दशीति ॥ ६ ॥

प्रमीयमाणोपि मतैर्मुनीनां त्रिद्व्यं-  
घ्रिनक्षत्रभुवः कुमार्याः ॥ नाडीचतुः  
पंचतयस्य पक्षो नक्षोदवीथीविषय-  
त्वमेति ॥ ७ ॥

अथ त्रिनाडिकाचक्राभिप्रायेण नाडीवेध उक्तः के-

चित्तु त्र्यंघ्रिभ्यंघ्रिभ्योत्पन्नकन्यायाश्चतुः पञ्चनाडीचक्रे  
 वेधमाहुः तन्मतं दूषयति-उपजातिका । त्रयश्च द्वौ च  
 अंग्रयो यस्य त्रिद्व्यंघ्रि तच्च तन्नक्षत्रं तत्र भवतीति त्रिद्व्यं-  
 घ्रिनक्षत्रभूस्तस्याः कुमार्याः क्रमान्नाडीचतुःपञ्चतयस्य  
 चत्वारश्च पञ्च चतुःपञ्च तेऽवयवा यस्य तच्चतुःपञ्च-  
 तयं नाडीचतुष्टयं नाडीपञ्चकं चेति “संख्याया अव-  
 यवे तयप्” तस्य पक्षः मुनीनां हारीतादीनां मतैः प्र-  
 मीयमाणोपि प्रमाणं प्राप्नुवन्नपि आगमप्रामाण्यं प्रा-  
 तोपि क्षोदवीथीविषयत्वं क्षोदस्य वीथी पदवी त-  
 स्याः विषयत्वं विचारमार्गगोचरत्वं नैति न गच्छति  
 त्र्यंघ्रिभं कृत्तिकादिकं द्व्यंघ्रिभं मृगशीर्षादिकम् । तथा  
 च हारीतः “त्र्यंघ्रिभे द्व्यंघ्रिभे कन्या जातायागणयेत्क्र-  
 मात्॥ बन्धिभादिन्दुभान्नाडीं चतुःपञ्चसु पर्वसु॥” इति  
 अस्य विषयमाह-वृद्धगर्गः । “जांगले च चतुर्मांसा  
 पांचाले पञ्चमालिका । त्रिमाला सर्वदेशेषु विवाहे  
 ऋषिसंमतम्॥” इति । एवं क्षोदे क्रियमाणे स पक्षोऽत्र  
 देशे व्यवहारं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

अश्वेभाजोरगाहिश्चखनकरिपवो  
 मेष ओतुर्द्विराखुर्गोकाल्यौ व्याघ्र-  
 काली पशुरिपुहरणैश्चकीशाः क्रमे-  
 ण॥ द्वौ बभ्रू कीशसिंहौ तुरगमृगप-

तिष्ठागमातंगमेवं नेष्ट्यंयोनिः सवै-  
रा वरयुवतिनृपामात्ययोरश्विनीतः८॥

अथ योनिमैत्रमाह-स्रग्धरा। अश्वस्तुरगः इभो हस्ती  
अजो मेघः उरगः सर्पः पुनरहिः सर्पः श्वा शुनकः खनक  
रिपुर्मूषकश्चुर्माज्जरः मेघः अजः पुनरोतुर्माज्जरः द्वि-  
द्विवारम् । आसुर्मूषकः गौर्धेनुः काली महिषी व्याघ्रः  
प्रसिद्धः पुनः काली महिषी पुनः पशुरिपुर्व्याघ्रः हरि-  
णो मृगः पुनरेणो मृगः पुनः कीशो वानरः सिंहः  
प्रसिद्धः तुरगोऽश्वः पुनर्मृगपतिः सिंहः छागो मेघः  
पुनर्मातंगो हस्ती द्वैद्वैकत्वे क्लीवत्वम् । एवं क्रमेण अश्वि-  
नीमारभ्य योनिः स्यात् । सा योनिः सवैरा नेष्टा क-  
योः वरयुवतिनृपामात्ययोः । वरश्च युवतिश्च वरयुवती  
नृपश्च अमात्यश्च नृपामात्यौ वरयुवती च नृपामात्यौ च  
तयोः । पृथक् पृथक् द्वित्वविवक्षायां न बहुत्वम् अश्वि-  
नीत इत्यत्र “तसिलादिप्वाकृत्वसुचः” इत्यनेन पुंवद्भावे  
प्राप्ते उक्तपुंस्कत्वाभावान्न स्त्रीप्रत्ययलोपः । अत्र यो-  
न्योर्वैरं लोकाज्ज्ञेयम् । गोव्याघ्रं गजसिंहमित्यादिना ८॥

त्रियुग्मी रोहिण्यासह शिवयमर्क्षेन  
रिसुरेश्रुतिस्वातीमित्रादिति गुरुकरा-  
त्याशिवशशिभम् ॥ परं दैत्ये मृत्यु-  
र्दनुजमनुजानामनिमिपैः सह स्वैरं  
वैरं निर्ऋतितनयानां परिणये ॥९॥



अथ गणमैत्रीमाह-शिखरिणी । त्रयाणां युग्मानां  
समाहारस्त्रियुग्मी फल्गुनीद्वयम् आपाढद्वयं भाद्रप-  
दाद्वयं चेति रोहिण्या सह रोहिणी चेत्यर्थः । शिवय-  
मर्क्षे आर्द्राभरण्यौ अयं नक्षत्रनवको नरि मनुष्ये  
भवेत् । श्रुतिः श्रवणः स्वाती प्रसिद्धा मित्रोऽनुराधा  
अदितिः पुनर्वसुः गुरुः पुष्यः करो हस्तः अंत्यं रेवती  
अश्विनौ अश्विनी शशिशं मृगशिरः अयं नवकः सुरे  
देवे भवेत् । परं चित्रा ज्येष्ठा धनिष्ठा विशाखा मूल कृ-  
त्तिकाशततारकामघाश्लेषा इतीदं नवकं दैत्ये भवेत् ।  
एवं गणत्रयम् । अस्य प्रयोजनमाह । मृत्युरिति । दनु-  
जमनुजानां राक्षसमनुष्याणां मृत्युः । नृनार्यो रक्षोमा-  
नुषगणयोः सतोः मृत्युः स्य दित्यर्थः । निर्रक्तितनयानां  
राक्षसानाम् । अनिभिपैदैवैः सह स्वैरमतिशयितं वैरं  
स्यात् । अत्र परिणये विवाहे । अर्थाच्छेषाणां मित्रत्वम् ॥ ९ ॥

चापाजौ वृषभेण कुंभमिथुनौ कर्के-  
ण मेषः स्त्रिया शैलाग्रीसविषेण का-  
र्मुकहरी नक्रेण नित्यद्विपौ ॥ तद्व-  
त्कुंभतुले झपेण वशंगाः सिंहं विना  
न्ये नृणां तद्भोज्या जलचारिणो हरि-  
वशाः सर्वे विना वृश्चिकम् ॥ १० ॥

अथ स्वाभाविकं राशिवैरं तथा वश्यमैत्रं चाह-

शार्दूलविक्रीडितं।चापाजौ धनुर्मेपौ वृषभेण सह नित्य-  
द्विषौ नित्यविरोधिनी चापेन अजेन वा - सह वृषभो  
नित्यं शत्रुरित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि । कुंभमिथुनौ क-  
र्केण मेपः स्त्रिया कन्यया शैलांग्री तुलामिथुनौ सवि-  
षेण वृश्चिकेन । शैलांग्री इत्यत्र संख्यासंज्ञया तत्संख्यौ  
राशी विवक्षितौ । अतो न बहुत्वम्।यथा निगमवाक्ये।  
“ युग्माग्नियुग्मभूतानां पण्मुन्योर्वसुरंध्रयोः” ॥ इति ।  
पण्मुन्योः पष्ठीसप्तम्याः वसुरंध्रयोरष्टमीनवम्याः एव-  
मत्रापि । कार्मुकहरी धनुः सिंहौ नकेण मकरेण  
तद्वन्नित्यद्विषौ कुंभतुले झपेण मानेन एते द्विर्द्वादश  
पडष्टकयोर्मध्ये नित्यवैरिण उक्ताः । शेषाणामैत्रम् ।  
अत्रान्ये हेतुमाह । शत्रू मंदसितौ इत्यादि।सत्याचार्य  
मते यदीधपत्योः शत्रुत्वमस्ति त एवैते पठिताः  
शेषाः श्रेष्ठाः । तथा च तद्वाक्यम् । द्विर्द्वादशे ।  
मेपझपौ वृषमिथुनावित्यादिपडष्टके च सिंहो मीनयुत  
इत्यादि । ग्रंथकारस्तु सत्याचार्यमतमैत्रमसहमानोऽ-  
मुं हेतुं परित्यज्य राशयोरेव वैरं नित्याद्विषावित्यनेनाव-  
दत् । नतु तदधिपतिवशतेति ग्रंथकारस्याशयः।अथ व-  
श्यमैत्रं वशगा इत्यादि सिंहं विनाऽन्ये सर्वे राशयः नृ-  
णां मनुजानां तुलामिथुनादीनां वशगाः स्युः वशमधी-  
नं गच्छन्ति ते तथा तेषां नृणां भोज्याः लभ्याः जलचा-  
रिणो मीनादयः स्युः हरेः सिंहस्य वृश्चिकं विना

सर्वे राश्यः वशागाः स्युः शेषं वश्यावश्यं लोकप्रसिद्धे-  
र्ज्ञेयम् ॥ १० ॥

स्वाद्राशिमैत्री धुरि कुंभहयोः क-  
रग्रहस्तद्रहविग्रहेपि ॥ तस्यामस-  
त्यां मृगराजमीनावप्यादृतौ तद्रह-  
योः सुहृत्त्वे ॥ ११ ॥

अथैषां गुणदोषाणां निर्णयं विवक्षुस्तावत्तत्र किञ्चि-  
त्स्वकौशलं दर्शयति- उपजातिका। धुरि भारे मुख्येति  
यावत्। कुंभहयोः कुंभसिंहयोः राशिमैत्री स्यात्। समस-  
प्तकत्वात्। तयोः राश्योः ग्रहौ स्वामिनौ शनिरिवी तयोः  
विग्रहे वैरेपि करग्रहः स्यात्। तस्यां राशिमैत्र्या-  
मसत्यां षडष्टकत्वान्मृगराजमीनौ सिंहमीनावप्यादृतौ  
करग्रहे गृहीतौ। तत्र हेतुः। कस्मिन् सति तद्रहयोस्त-  
त्स्वामिनोः गुरुसूर्ययोः सुहृत्त्वे मैत्रे सति। ग्रहमैत्रं सुर-  
गुरुरित्यादिना वक्ष्यति। राशिमैत्रग्रहमैत्रयोरन्यतरला-  
भे शुभमिति तात्पर्यार्थः ॥ ११ ॥

पत्योर्विरोधे सति भृत्ययोः स्यान्मे-  
लेप्यमेलस्तदलं भूमैत्र्या ॥ अत्रो-  
च्यते किं न मिथो वधः स्यादेकस्य  
सेनानरयोर्विरोधात् ॥ १२ ॥

अथाक्षिपति—इन्द्रवज्रा । पत्योः स्वामिनोर्विरोधे वैर-  
सति भृत्ययोस्तत्सेवकयोर्मैले सत्यपि अमेलममैत्रं  
स्यादिति लोकप्रत्यक्षम् । अतो ग्रहवैरे सति राशिमैत्रं न  
मुख्यमिति भावः । अत्रास्मिन्विषये उच्यते उत्तरं दीय-  
ते एकस्य राज्ञः सेनानरयोः सेनासंबन्धिपुरुषयोर्मिथः  
परस्परं विग्रहाद्विरोधात् वधो घातः किं न स्यात् अपि  
तु स्यादेव अतो राशिमैत्रं मुख्यमित्युक्तम् ॥ १२ ॥

अपश्यति स्वामिनि तद्वधश्चेद्गृहेश्व-  
राणां किमदृष्टमस्ति ॥ अतोधिकं  
चेत्प्रभुसख्यमेव ततो गतिः का सम-  
सप्तकस्य ॥ १३ ॥

अथ प्रत्युत्तरम्—उपेन्द्रवज्रा । स्वामिनि अपश्यति  
सति तयोः सेनानरयोर्वधो मिथः स्यात् । स्वामिसमक्षं  
न स्यादेवेति । इति चेत्तर्हि गृहेश्वराणां राश्यधिपानां  
किमदृष्टमस्ति अपि तु तैः सर्वं दृष्टमेव देवतात्वात् ।  
यत्तु दशमतृतीये इत्यादिना दर्शनादर्शनमुक्तं तत्त-  
त्फलार्थमेव वास्तवं तु गृहेश्वराणां किमदृष्टमस्तीति ।  
अतः कारणात्प्रभुसख्यं स्वामिमैत्रमेवाधिकमिति चेत्  
तदा समसप्तकस्य कुंभसिंहावित्यादिकस्य का गतिः क  
प्रश्नो गमनिकावा कथ्यतामिति ॥ १३ ॥

स्वभावमैत्री सखिता स्वपत्योर्वशि-

त्वमन्योन्यभयोनिशुद्धिः॥परः परः  
पूर्वगमे गवेष्यो हस्ते त्रिवर्गी युग-  
पद्युतिश्चेत् ॥ १४ ॥

सिद्धांतरूपां गतिमाह-उपजातिका॥स्वभावमैत्र्यादिषु  
चतुर्षु मध्ये पूर्वपूर्वगमे पूर्वपूर्वालाभे सति परःपरः उत्त-  
रोत्तरः गवेष्यः अन्वेषणीयः आदौ राज्योः स्वभाव-  
मैत्री समसप्तकादिका विलोक्या तदलाभे स्वपत्न्योः  
तद्राज्यधिपयोः सखिता तस्य ग्रहसख्यस्यालाभे  
वशित्वं राज्योर्वश्यत्वं वश्या लाभेन्योन्यं भयोर्नक्षत्र-  
योर्योनिशुद्धिः योनिवैराभावः चेत् युगपद्युतिश्चतुर्णां-  
मपि लाभस्तदा हस्ते त्रिवर्गी स्यात्त्रिवर्गो धर्मका-  
मार्थैः' इत्यमरः । धर्मादयः करगताः स्युरिति । एवं  
पूर्वपूर्वस्यैकस्य अलाभे सति उत्तरोत्तरलाभेन तदप-  
वाद उक्तः चतुर्णामपि लाभेतिशुभं त्रयाणां द्वयोर्वा  
लाभे तारतम्यं कल्प्यम् ॥ १४ ॥

आपार्श्वकेंद्रद्वयगाः प्रसूतौ तत्का-  
लमित्राणि मिथः खपांथाः॥ न्यूनाम-  
पिस्त्रीनरभृत्यराज्ञां तत्कालसंख्य वि-  
शिनष्टि मैत्रम् ॥ १५ ॥

अथ स्वाभाविकग्रहमैत्रस्यापि तत्कालसंख्येन  
न्यूनाधिकतामाह - इंद्रवज्रा । प्रसूतौ जन्मकाले

यस्माद्ग्राहात्पाश्वर्योः केंद्रद्वयं पाश्वर्यकेंद्रद्वयं तन्मर्या-  
दीकृत्येत्यापाश्वर्यकेंद्रद्वयं तत्र गच्छन्ति ते आपाश्व-  
र्यकेंद्रद्वयगाः स्वपांथाः ग्रहाः।खे अकाशे पथन्ति गच्छन्ति  
ते स्वपांथाः तेन ग्रहेण सार्धं मिथो मित्राणि स्युः ।  
एतदुक्तं भवति । जन्मकाले यस्मिन्नाशौ यो ग्रहः  
स्थितस्तस्मात्पृष्ठवर्ति केंद्रं दशमस्थानं भवति ।  
अग्रतश्चतुर्थं तदवधित्वेन तदंतर्वर्तिस्थानानि  
दशमैकादशद्वादशद्वितीयतृतीयचतुर्थानि एष्वन्यत-  
मस्थाने स्थितौ ग्रहौ तौ तत्कालं मिथो मित्रे स्तः।  
अन्ये तु शत्रव इति । तथाच वराहः।“तत्कालेन दशा-  
यबंधुसहजस्वांत्येषु मित्रं स्थित”इति । प्रसूतिग्रहणं त-  
त्कालसख्यस्य जातकशास्त्रोक्तेः । अतोऽन्यत्रापि तद्वि-  
लोक्यमिति ज्ञेयम् । तदेवाह । न्यूनामपि । स्त्रीनरौ च  
भृत्यराजानौ च तेषां स्त्रीनराणां भृत्यराज्ञां च ग्रहव-  
शेन या स्वाभाविकी मैत्री ताम् । एतत्कालस-  
ख्यं विशिनाष्टिं विशेषयति । कथंभूतामपि न्यूनामपि  
किं पुनः संपूर्णाम् ॥ तथा हि । स्वाभाविको यो मित्रं  
समः शत्रुर्वा स चेत्तत्काले मित्रं भवति तदा क्रमेणा-  
धिमित्रं मित्रं समः स्यात् । चेत्तत्काले शत्रुस्तदा समः  
शत्रुरधिशत्रुरिति ॥ १५ ॥

पट्कर्मणां शासितदेवदैत्यौ राज-  
न्यकस्याधिपती कुजाकौ ॥ विद्यू-

द्रयोश्चंद्रबुधौ शनिश्च संकीर्णपः स्त्री-  
नृषु वर्णमैत्री ॥ १६ ॥

अथ वर्णमित्रमाह । इंद्रवज्रा । यजनयाजनादीनि  
पङ्कमाणि तानि येषां ते पङ्कमाणः विप्राः तेषाम् शासि-  
तदेवदैत्यौ । अधिपौ स्तः । शासिताः शिक्षिताः देव-  
दैत्या याभ्यां तौ गुरुशुक्रावित्यर्थः । राजन्यानां क्ष-  
त्रियाणां समूहो राजन्यकं तस्याधिपती कुजाकौ स्तः ।  
विद्रुद्रयोः क्रमेण चंद्रबुधौ विशां चंद्रः शूद्राणां बु-  
ध इति । संकीर्णानां संकरभवानां निषादादीनां पतिः  
शनिः स्त्रीनृषु बधूवरेषु वर्णमैत्री स्यात् । तद्यथा । राज्य-  
धिप्रयोर्वर्णौ विलोक्यौ । तन्नोत्तमवर्णः पुरुषः शस्तः स-  
मवर्णो मध्यः हीनवर्णोऽधम इति । एतदुक्तं ग्रंथकृता  
स्वदेशप्रसिद्धेः । अन्यदेशे तु मीनाद्ब्राह्मणपूर्वा  
वर्णाः कन्योत्तमो वरः श्रेष्ठः मध्यस्थः समवर्णो नी-  
चो हीनोद्भवः पुरुष इति । इयं वर्णमैत्री केवलं गुण-  
मात्राय न तु मेलकनिर्णयाय । अतो मेलकनिर्णयानं-  
वरमेवोक्ता ॥ १६ ॥

सुरगुरुर्जगुरु कविकोविदौ विरवयो  
विकुजा विरवीदवः ॥ अशशिसूर्य-  
कुजाः सुहृदो रवेर्यवनयुक्तिरियं न  
यवीयसी ॥ १७ ॥

एवं राशिकूटमुक्त्वा तदुपयोगिग्रहमैत्रं जातकौ-  
 त्तमत्राह । एतदारभ्य श्लोकाष्टकं द्रुतविलंबितम् ।  
 रवेः रविमारभ्य एते सुहृदः स्युः । अर्थादन्ये शत्र-  
 वः । रवेः सुरगुरुर्मित्रम् अन्ये शत्रवः । चंद्रस्य बुधगुरु  
 मित्रे शेषाः शत्रवः । भौमस्य शुक्रबुधौ मित्रे अन्ये  
 शत्रवः । बुधस्य रविव्यतिरिक्ता मित्राणि रविः  
 शत्रुः । गुरोः कुजव्यतिरिक्ता मित्राणि कुजः शत्रुः ।  
 शुक्रस्य रवीन्दुव्यतिरिक्ता मित्राणि रवीन्दू शत्रू । शनेः  
 शशिसूर्यकुजव्यतिरिक्ता मित्राणि शशिसूर्यकुजाः  
 शत्रवः । इयं यवनाचार्याणां युक्तिर्न यवीयसी न  
 कनिष्ठा । 'स्थूलदूरयुवे' ति यवादेशः । यवनाचार्य-  
 मतमिदं महदित्यर्थः ॥ १७ ॥

इदमुदीर्य वराहविरोचनो निजमतेऽ-  
 पि न दूषितवान्पुनः ॥ स बहु मन्य-  
 त एव यथातथं जयति शास्त्रमिदं  
 यवनेष्वपि ॥ १८ ॥

कथमिदं महदिति संस्थापयति । विरोचनः सूर्यः  
 मिहिरोऽपि सूर्यः अतो वराहमिहिरः इदं यवनमतं  
 निजमते बृहज्जातकादाबुदीर्य उक्त्वापि न दूषि-  
 तवान् । पुनर्वाक्यालकारे । अन्यमतं स्वमते न हि  
 निवेश्यं यदि निवेशितं दूषितव्यं तर्हि नो चेत्तर्हि



तत्संमतमेवेति न्यायविदः । वक्ष्यति च । अतः कारणात्स वराहः इदं ग्रहमैत्रीशास्त्रं यवनेषु यथातथं सत्यं बहु अतिशयितं जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति मन्यत एव । वराहोऽपि यवनशास्त्रं याथार्थ्येन अतिशयं मन्यत एवेत्यर्थः ॥ १८ ॥

परमतं स्वमते विनिवेशितं यदि न दूषितमादृतमेव तत् ॥ कलितकेवल-  
सत्यमतः स तद्यवनयुक्तिषु नूनम-  
निःस्पृहः ॥ १९ ॥

एतदेव भंग्यन्तरेणाह । यस्मात्कारणात्स्वमते स्वमतमध्ये निवेशितं निक्षिप्तं परमतं यदि न दूषितं तदा तन्मतमादृतं स्वीकृतमेवेति न्यायविदः । तत्तस्मात्कारणात् नूनमित्यहं तर्कः । इतीति । कथं स वराहः कलितकेवलसत्यमतः । कलितं लक्षितं केवलं साकल्येन सत्याचार्यस्य मतं येन स तथा । यवनपंक्तिषु यवनाचार्यवचनेषु अनिःस्पृहः निर्गतः स्पृहाया निःस्पृहः न निःस्पृहोऽनिःस्पृह इति । वराहोऽपि सत्याचार्यमतं सम्यगालोच्यापि यवनमतं स्पृहयत्येवेत्यहं तर्क इत्यर्थः ॥ १९ ॥

किमबहुत्वमयं मिहिरो दिशन्ग्रहसु-  
हृत्वमिदं जगृहे हृदि ॥ उभयथापि

समं सति तन्मते महति केऽपि भवे-  
म वयं यतः ॥ २० ॥

एवं चेत्तर्हि वराहो यवनमते अल्पमतत्वं कथ-  
मुक्तवानित्याशङ्क्याह । अयं मिहिरो वराहमिहिरः  
इदं यवनोक्तं ग्रहसुहृत्त्वं ग्रहमैत्रयादिशस्त्र-  
बहुत्वमबहूनां मतमिति ह्यदि मनसि किं जगृहे  
धृतवान् । यवनग्रहमैत्रमुक्त्वा केपांचिदेवं मत-  
मिति कथमुक्तवानित्यर्थः । तथा च तद्वाक्यम् ।  
'जीवो जीवबुधौ सितेन्दुतनयौ व्यर्का विभौमाः क्रमाद्धी-  
र्द्धर्का विकुजेंदवश्च सुहृदः केपांचिदेवं मतम्' इति । अतो  
यवनमैत्रमबहुसंमतमिति वराहस्याभिप्राय इति भावः ।  
अत्रोत्तरम् । उभयथेति । तन्मते तस्य वराहस्य मते मह-  
ति पृथुतरे सति उभयथा उभयपक्षेऽपि समं तुल्यं  
स्यात् । यतो यस्मात्कारणाद्वयं केचन केऽपि भवेम  
स्याम । वराहमतं महच्चेत्तर्हि वयमपि महान्तो भवामे-  
त्युभयत्र समम् । उभयोरपि मानुषत्वादिति भावः ॥ २० ॥

बहुतरैः कृतमेव कृती स चेदनुसस-  
ति तदप्ययथातथम् ॥ पृथगपि द्वि-  
गुणे त्रिगुणे सकृत्त्रिगुणमित्यवहृत्ति-  
रियं यतः ॥ २१ ॥

एतन्निरस्य पुनः संस्थापयति । स कृती कुशलो

बराहः बहुतरैर्भूयिष्ठैर्यत्कृतं तदेव अनुससर्ति अनुसर-  
ति। बहुमतानुसारमेव वक्तीत्यर्थः । सृ गतौ अयं धातु-  
पाठे वेदिकधातुपाठे वैदिकधातुष्वेव बह्वादिषु पाठि-  
तः। भाषायां तु भ्वादिष्वेव अतोऽनुससतीति छंदस्येव  
वटतो भाषायां तु सरतीत्येव । यद्लुकि तु ससतीति ।  
तस्मादयं कविपमाद एवातोऽत्रेदं पठितव्यम् अनुस-  
सार । तदप्ययथातथमिति । इति चेत्तदपि अयथातथं  
सत्यं न भवति। अत्र हेतुः। पृथगिति। यतः पृथगपि द्विगुणे  
त्रिगुणे प्राप्ते सकृद्विगुणमिति यदुक्तं सा अवहृक्तिः। अव-  
हूनामुक्तिः सा । यथा वर्गोत्तमस्वराशिद्वेष्काणनवांशके  
सकृद्विगुणं वक्रोच्चयोस्त्रिगुणितं द्वित्रिगुणत्वसकृद्विगु-  
णमिति वर्गोत्तमादिष्वन्यतमगते वक्रोच्चयोरन्यतरग-  
ते च गृहे सति तस्यायुपः पृथग्विगुणस्य त्रिगुणस्य  
च प्राप्तौ एकवारमेव त्रिगुणं तदायुः कार्यमिति बराहे-  
ण यदुक्तं तन्न बहुसंमतमतो बराहोक्तमपि न बहुसंम-  
तमिति भावः । तथा चोक्तं कल्याणवर्मणा। 'बहुताड-  
नसंप्राप्तौ यां करोत्येकवर्गणाम्॥ बराहमिहिराचार्यः सा  
न दृष्टा पुरातनैः॥' इति। अतो बराहोपि बहुसंमतमेव व-  
क्तीति न किं तु कदाचित्स्वमनोरुचितमपि वक्तीत्य-  
तो यवनोक्तग्रहमैत्रविषये केषांचिन्मतमिति बराहेणो-  
क्तेपि तद्वाक्यस्याप्रामाण्याद्यवनोक्तमेव ग्रहमैत्रं मह-  
दित्यर्थः । एतन्नवांशचिताव्याजेनापि सम्यक् संस्था-

पयिष्यति एतद्व्रथकृतः स्वपक्षस्थम्पनार्थं पाण्डित्यमा-  
त्रं वास्तवं नैतदिति वयं ब्रूमः । यत उक्तं वराहेण बृह-  
ज्जातके “ सत्योपदेशो वरमत्र किंतु कुर्वत्ययोग्यं बहु-  
वर्गणाभिः ॥ आचार्यकत्वं तु बहुमतो यामेकं तु य-  
द्भूरि तदेवकार्यम् ” इति । अत्रैवं मतभेदे सति सत्यो-  
पदेशो वरं तर्हि किंतु अन्ये स्वतुंगवक्रवर्गोत्तमस्य  
गृहादिगते ग्रहे सति बहुवर्गणाभिर्यदायुः कुर्वति तद-  
योग्यम् अनवस्थादोषप्रसंगादिति भावः । आचार्यस्य  
कर्म आचार्यकं तस्य भावः आचार्यकत्वम् । आचार्यस्य  
सत्याचार्यस्यायमभिप्राय इत्यर्थः । बहुवर्गणायां प्राप्ता-  
यां सत्यां यदेकमधिकं वर्गणं तदेव कार्यमिति । तद्यथा  
उच्चगतस्य उच्चगणो रूपत्रयं, वक्रगतस्य चेष्टा गुणोपि  
रूपत्रयं, तत् घातमूलं स्फुटगुणोपि रूपत्रयं, वर्गोत्त-  
मस्वगृहादिगते आश्रयगुणोपि रूपत्रयासन्नः तत्स्फु-  
टगुणयोर्घातमूलं कर्मगुणोपि रूपत्रयम् । अतः उच्चवक्र-  
वर्गोत्तमस्वगृहे द्रेष्काणादिगतेऽपि सकृद्विगुणमित्येव ।  
अतो वराहेण गर्गसत्यादिमतानुसारेण यदुक्तं तद्यु-  
क्तियुक्तं बहुमतं चेति । अतो ग्रंथकृता बहुतरैः कृतमे-  
वेत्यादि यदत्रोक्तं तन्न विचारणीयमिति ॥ २१ ॥

अभिदुरावधिपौ सृजतः शुभं शशि-  
नवांशकयोरिति देवलः ॥ तदपि चा-

रु न चारुपितैर्मुखैर्व्यवहरन्ति तथा  
वितथाशयाः ॥ २२ ॥

एवं राशिसख्यं प्रसंगेनोक्त्वा इदानीं नवांशसख्य-  
स्यापि ग्राह्यत्वप्रतिपादितत्वात्तत्कथं नोक्तं तद्विषय-  
माह । जन्मकाले शशिनवांशयोश्चंद्रगतनवांशयोः अ-  
भिदुरौ न भिदुरं ययोस्तावभिदुरौ सुहृदौ । भिदे-  
र्भावे कुरच् । अधिपौ शुभं सृजतः कुरुत इति दे-  
वलो मुनिः प्राह । तदपि चारु रमणीयं तत्काल-  
मीमांसयैव प्रतिपादितं तथा तेन प्रकारेण  
जनाः वितथाशया न व्यवहरन्ति वितथमसत्यमा-  
शयो येषां ते तथा असत्याभिप्रायाः । कैः आ ईपत्  
रुपितैः कुपितैर्मुखैः अयुक्तं मनासि स्वीकृत्य किञ्चि-  
त्कुपितमुखैर्न व्यवहरन्तीत्यर्थः । यद्वा अवितथाशयाः  
यथार्थमनोभावाः मनस्येवमेवास्ति परंतु तादृशैर्मु-  
खैस्तथा न व्यवहरन्ति । लोके अप्रसिद्धिभयादिति  
भावः ॥ २२ ॥

लवदृशैव हि लग्नदृशं विना फलम-  
मसंत येऽपि करग्रहे ॥ शशिनवांशस-  
खित्वपराङ्मुखाः किमलमस्तु गता-  
नुगतं जगत् ॥ २३ ॥

एवं देवलादिमते सत्यपि ये नवांशसख्यव्य-  
वहारं न कुर्वन्ति तेषामनिष्टमाह । ये देवविदः

करग्रहे - लग्नदृशं विना लवदृशा नवांशदृ-  
ष्ट्यैव फलममंसत लुङि मन्यन्ते स्म।तेऽपि शशिनवां-  
शसखित्वे पराङ्मुखाः किं स्युः।तथा हि ' उदयगत-  
नवांशः स्वेशदृष्टे युतो वा न भवति यदि मृत्युः स्या-  
त्तदानीं वरस्य' इत्यादीनि नवांशदृष्ट्यैव लग्नफलं  
मन्यन्ते । लग्नफलं नवभागे इत्यंशस्य मुख्यत्वात्त  
एव मेलकार्थे चंद्रनवांशयोः सख्यं कथं न मन्यन्त इति  
तेषामनिष्टम् । अथेदमलमस्तु दूरं तिष्ठतु तत्कथं जग-  
द्विश्वं गतानुगतं गतमनुगतं गतानुगतं ' गतानुगतिको  
लोको न लोकः पारमार्थिकः' इति कश्चिदित्यज्ञाना-  
द्व्यवहरत् तथैवान्यस्तद्वदन्योपीत्यंधपरंपरावदि-  
ति भावः ॥ २३ ॥

इति विवाहवृंदावने मेलकाध्यायस्तृ-  
तीयः ॥ ३ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यश्रीकेशवसांवत्सरात्म-  
जगणेशविरचितायां विवाहवृंदावनटीकायां विवा-  
हदीपिकायां मेलकाध्यायस्तृतीयः ॥ ३ ॥

अथ नवांशचिन्ताध्यायः ॥

नवलवाधिपती उदयास्तयोरनिमि-  
पार्चितचांद्रमसायनौ ॥ वरपतिवर-

योःसमवैरिणौ यदि तदिष्टफलेष्वपि  
फलश्रुता ॥ १ ॥

अथ सूक्ष्मं लग्नादिफलं विवक्षुस्तावन्नवांशचिन्तां  
निरूपयति । तत्रादौ कस्यहोक्तनवांशोपपत्तिव्याजेन  
यवनोक्तग्रहमेतं संस्थापयति । तथा हि लग्नं किल भर्तृ-  
स्थानं तत्रत्यो नवांशोऽपि सप्तमं जायास्थानं तन्नवां-  
शश्च तयोः सरूपे वरवध्वोः सरूपं अतत्सूक्ष्मयोरुद-  
यांशास्तांशयोः स्वामिवशात्सरूपे सति बंधूवरयोरपि  
मैत्रं स्यात् । अतो येषां नवांशानामेवं घटते त एव  
नवांशास्तुलाधरादयः पूर्वेः पठितास्ते एव यवनो-  
क्तग्रहमेतस्यैव स्वीकाराद्घटन्ते । अतो यवनोक्तमेव  
ग्रहमेतं प्रमाणमिति सिद्धांतं मनसि मत्वा पूर्वोत्तरप-  
क्षौ रचयति । नवलवेत्यादिना श्लोकपट्टेन । अत्रा-  
ध्याये सर्वाणि द्रुतविलंबितानि । उदयास्तयोर्ल-  
ग्नतत्सप्तमगतयोर्नवलवयोरधिपती अनिमिषार्चित-  
चांद्रमसायनौ यदि स्तः । अनिमिषा देवाः तैरर्चितः  
बृहस्पतिः चंद्रमसोऽनंतरापत्यं चांद्रमसायनो बुधः ।  
नैतच्चतुरस्रम् । अनंतरापत्ये फकोऽविधानात् किंचिद-  
पत्यमात्रेऽपि अणादीनिच्छन्ति तदपि न नडादिष्वपा-  
ठात् पृथग्विधानदर्शनाच्च । एवं सति तस्येदमित्या-  
द्यपि निरस्तम् । यत्तु प्रायश्चित्तस्मृतौ चांद्रायणमिति  
प्रयोगः । तदेवं व्युत्पादितं चंद्रस्य अयनमिवायनं

चरणं यस्मिन्कर्मणि तच्चांद्रायणम् । संज्ञायां दीर्घः ।  
 एवं सोमायनादि । अतो ग्रंथकृता अनंतरापत्ये चां  
 द्रमसायना इति प्रयुक्तस्य गतिमात्रं चिंत्यते । चंद्रमस  
 इदं चांद्रमसम् अयनमुत्पत्तिस्थानं यस्यासौ चांद्रम-  
 सायनो बुधः। तौ गुरुबुधौ यदि समवैरिणौ स्तः तत्तदा  
 वरपतिवरयोर्वरवध्वोः। पतिं वृणुते सा पतिंवरा । 'संज्ञा-  
 यां भृतृवृजिधारिसहितपिदम' इति खः । खित्वान्मुम् ।  
 इष्टफलेषु शुभफलेषु फल्युता निष्फलता स्यात् ।  
 एतदुक्तं भवति । लग्ननवांशः किल वरस्य स्थानं  
 तत्सप्तमांशो वध्वाः अतस्तदधिपयोमैत्रेः सति तयोः  
 शुभम्। तत्र यदा लग्ने धनुरंशः तदा सप्तमे मिथुनांशः  
 अनयोरधिपती गुरुबुधौ तौ सत्याचार्यमते शत्रू मंद-  
 सिंतावित्यादिना मिथः समवैरिणौ भवतः । अतोऽ-  
 त्र वरवध्वोः शुभं न स्यात् । तस्माद्धनुरंशो न ग्राह्यः  
 इत्यनिष्टं प्राप्तम् ॥ १ ॥

तदुदयद्विपदांशनियामको यवनसौ-  
 हृदमाद्रियतां जनः ॥ इतरथा कथम-  
 स्तु करग्रहस्तनुफलं हि लवानवल-  
 म्बतः ॥ २ ॥

अतो यवनमैत्रं ग्राह्यमित्याह । तत्तस्मात्कारणाज्ज नो  
 यवनसौहृदं यवनोदितमैत्रमाद्रियतां स्वीकुरुताम् ।



दृ गतौ तुदादिः कर्त्तरि लोट् । सौहृदमित्यस्य गतिः  
 प्राग्वत् । कथंभूतो जनः उदयद्विपदांशनियामकः ।  
 उदये लग्ने द्विपदांशो नरराश्यंशस्तं नियच्छतीति  
 तथा । कर्त्तरि वुष् । लग्ने द्विपदांशस्वीकारं नियम-  
 मिव न मैत्रं ग्राह्यमित्यर्थः । अन्यथात्वे दोषमाह ।  
 इतरथेति । इतरथा द्विपदांशानंगीकारे करग्रहः कथम-  
 स्तु अपितु मास्तु । तत्कथं हि यस्यात्कारणात्तनुफ-  
 लं लग्नफलं लवान् अवलंबते आश्रयते लवाधीनं ल-  
 ग्नफलमिति । अयंभावः 'लग्नफलं नवभागे' इत्युक्तत्वा-  
 न्नवांशो मुख्यः स च द्विपद एव भाव्यः । तथा चोक्तम् ।  
 "प्राग्लग्न द्विपदगृहा कुर्यादन्यांशकोदयो नाशम् ॥"  
 इति । अतो द्विपदांशादन्यनवांशे वरवध्वोर्नांशवि-  
 धानात्करग्रहः कथं स्यात् । अतो द्विपदांशनियमे  
 सति उदयास्तांशाधिपयोर्मैत्र्या भाव्यं सा च धनु-  
 र्द्धरांशे यवनोक्त्या लभ्यते । अतो यवनोक्तमेव  
 ग्रहमैत्रमाद्रियतामिति ॥ २ ॥

अथ रिपू यदि नो भयसप्तमौ तदय-  
 शः कलशस्य किमागतम् ॥ द्विपदतां  
 दधतोथ शुभर्क्षता यदि वृषानिमिषौ  
 किमुपेक्षितौ ॥ ३ ॥

अत्राप्यन्यस्याशंकामनूद्य दूषयति । अथ प्रकारां-

तरे । अथ उभयसप्तमौ न रिपूँस्तः । समसप्तकयोः  
 सदा राशिमैत्री अस्त्येव । चतुर्दशमवत् । अतो  
 धनुर्मिथुनयोर्मैत्रं सदास्तोति यदीदं तदा कलशस्य  
 द्विपदतां नरतां दधतो विभ्रतोऽप्ययशः अशुभत्वं  
 किमागतम् । कुंभे हि उत्तरार्धे मनुष्यः उदयास्तांशयोः  
 सदा समसप्तकत्वान्मैत्रम् । अतः कुंभांशः कथं न गृही-  
 त इति । अत्रोत्तरमशुभर्क्षतेति । अशुभर्क्षता पापग्र-  
 हभवनत्वं कुंभो हि पापग्रहभवनमतो नोक्त इति ।  
 अत्र प्रत्युत्तरम् । एवं चेत्तर्हि वृषानिमिषो वृषमीनौ  
 किमुपेक्षितौ कथं परित्यक्तौ वृषमीनौ सौम्यभवनत्वेऽ-  
 पि कथं त्यक्ताविति ॥ ३ ॥

अमनुजाविति चेत्किमु शौनको न-  
 वलवं ज्ञपमादृतवान्मुनिः ॥ शुभगृह-  
 द्विपदास्तलवः स चेद्भवतु तत्र किम-  
 स्तुतुलाभृतः ॥ ४ ॥

अत्रोत्तरप्रत्युत्तराणि । तौ वृषमीनौ । अमनुजौ  
 मानुषौ न भवतः । तदुदयद्विपदांशनियामक इत्युक्त-  
 त्वात् । इति चेत्तर्हि शौनको मुनिर्ज्ञपं मीनं नवलवं  
 कथमादृतवान्स्वीकृतवान् । प्रहसितवदना च मीनांश  
 इति । मीनो हि जलचरः कथं शौनकेन गृहीत इति ।  
 अत्रोत्तरम् । स मीनः शुभगृहद्विपदास्तलवः शुभगृहं

द्विपदश्च अस्तलवो यस्य स तथा मीनस्यास्तांशः  
कन्या असौ शुभग्रहं द्विपदश्च अतो मीनांशः शौन-  
केन आहत इति । अत्र प्रत्युत्तरम् । इति चेत्तर्हि तुला-  
भृतः किमस्तु । तुलाधारस्य हि अस्तलवो मेषः स  
शुभग्रहद्विपदश्च न भवति । अतः कस्मात्तुलाधरः  
स्वीकृत इति ॥ ४ ॥

द्विचरणः शुभभं च नवांशकस्तदय-  
मेकतरः परिगृह्यते ॥ इदमसंगतमंग-  
तवेरितं जगति नैकवशात्किल सौ-  
हृदम् ॥ ५ ॥

अत्रोत्तरप्रत्युत्तरे । यद्येवमुक्तं त्वया न तर्हि अयमे-  
कतरो नवांशो द्विचरणः शुभभं च परिगृह्यते । उदय-  
नवांशास्तं नवांशयोरेकतरो नवांशो मनुजः सौम्यंगृह  
च गृह्यते । न तु द्वावपीत्यस्माकमाशयः । द्वयोरेकस्य  
निर्धारणे तरप् । तुलाभृतो हि अस्तांशो मेषः तयो-  
स्तुलामेषयोरेकतरस्तुलाधरः असौ द्विचरणः शुभ-  
भं चास्ति अतस्तुलांशो गृहीत इत्यर्थः । अत्रोत्तरम् ।  
अंगेत्यव्ययं संवोधने । हे तव ईरितमुक्तमिदमसंगत-  
मघटमानम् । कस्मात् । किल यस्मात्कारणाज्जगति  
लोके एकवशात्सौहृदं नास्ति । सौहृदं हि उभयगतो  
धर्मः । स च कस्मिन्नेव न घटते । अत एकतरो

गृह्यते इति यदुदीरितं त्वया न तत्संगतमिति । ईरितम-  
त्र भावे क्तः । तवेति शेषविवक्षायां पृष्ठी । सौहृदमि-  
त्यस्य गतिः प्राग्वत् ॥ ५ ॥

खचरयोः सखिता यदि कारणं ध्व-  
नति सा नितरां यवनाध्वनिः ॥ कलश-  
सिंहनवांशपशत्रुतापरिणमत्युभयो-  
रपि शास्त्रयोः ॥ ६ ॥

एवं सर्वविकल्पान्परिहृत्य परिशेषात्फलितं सिद्धां-  
तमाह । खचरयोरुदयांशास्तांशस्वामिनोः सखिता  
मित्रत्वं कारणं वक्तव्यम् । विकल्पांतराणां निरासात्सा  
यदि कारणं स्यात्तर्हि सा सखिता यवनाध्वनि यवन-  
मार्गे नितरामतिशयेन ध्वनति शब्दायते । यवन-  
शास्त्रे प्रसिद्धेत्यर्थः । सत्याचार्यमते तु तयोर्मैत्र्यभा-  
वात् । अतो यवनमतमेव प्रमाणमिति भावः । ननु  
कुंभांशपरित्यागः सत्याचार्यमते वैरसद्भावादिति  
चेत्तत्राह । कलशेति । कलशसिंहौ च तौ नवांशौ  
च उदयास्तनवांशौ तौ पातस्तौ तत्पौ तदधिपती  
तयोः शत्रुता वैरत्वमुभयोर्द्वयोरपि शास्त्रयोः परि-  
णमति परिपाकं प्राप्नोति । शनिसूर्ययोर्वैरं यवनशास्त्रे  
सत्यशास्त्रेऽप्यस्ति । अतो यवनमते शत्रुत्वसद्भावात्कुं-  
भांशस्त्यक्तः । न तु सत्यशास्त्रवैरसद्भावादिति भावः ।

एवमंशे ग्रहमैत्रादिकं विचार्यते तर्हि राशावपि कथं  
नावलोक्यत इत्याशंकां परिहरति ॥ ६ ॥

अथानयोः समसप्तसुहृत्पथः कथ-  
मसूक्ष्मगतिः स च नैकधा ॥ इह हि  
लग्नमतान्यनुमेनिरे तदखिलैः खल-  
खेटगृहाण्यपि ॥ ७ ॥

अथेति । अथानंतर्ये । हि यस्मात्कारणात्तयोर्यवनस-  
त्यशास्त्रयोः समसप्तसुहृत्पथः कथमसूक्ष्मगतिः  
अपि तु सूक्ष्मगतिरेव । समाश्च ते सप्त च समसप्त ।  
सुहृदां पंथाः सुहृत्पथः । “ ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे ”  
इत्यप्रत्ययः । समसप्तानां सुहृत्पथः समस-  
प्तसुहृत्पथः । वरवधूस्थानराश्योः सदा समसप्तकत्वाद्दु-  
भयमतेऽपि समसप्तकराश्योर्मित्रत्वमार्गः सूक्ष्म एवे-  
त्यर्थः । स च सुहृत्पथः एकधा एकप्रकारो नास्ति  
तत्कालमैत्रादेरपि सद्भावात् । उक्तं हि न्यूनामपीत्यादि-  
ना । तत्तस्मात्कारणादिहास्मिन्विवाहे अखिलैः यव-  
नादिभिः सत्यादिभिश्च खलखेटगृहाणि पापग्रहभव-  
नानि मेपसिंहादीन्यपि लग्नगतानि अनुमेनिरे-  
अनुज्ञातानि । अपिः संभावनायाम् । पापभवनान्यपि  
शुभानि किं पुनः शुभभवनानीत्यर्थः ॥ ७ ॥

इति तुलाजितुमप्रमदाधनुःप्रथमखं-  
डमखंडफलं जगुः ॥ सततमस्तपति-

द्विपदीश्वरं नवलवं धलवंध्यपतिं  
त्यजेत् ॥ ८ ॥

अथ प्रकृतस्य सिद्धांतमाह-इत्युक्तहेतुभिः सिद्धं  
तुलाजितुमप्रमदाधनुःप्रथमखंडं सततमनवरतमखंड-  
फलं पूर्णशुभफलदं जगुर्यवनादयः । तुला प्रसिद्धा  
जितुमो मिथुनः प्रमदा कन्या धनुःप्रथमखंडं धनुषः  
पूर्वार्द्धमाद्वैकत्वमान खंडं फलं यस्य तत्तथा। तथाहि।  
धनुःपूर्वार्धकुंभोत्तरार्धमिथुनतुलाधरकन्याद्विपदाः कि-  
लोक्ताः तत्र धनुषोऽस्तांशो मिथुनः तत्स्वामिनोर्गु-  
रुधुर्यवनमते मैत्रम् । अतो धनुरंशः शुभः  
एवं मिथुनांशोऽपि । तुलाया अस्तांशे मेघः तत्स्वा-  
मिनोः कुजशुक्रयोः यवनमते मैत्रमतस्तुलांशः कुंभः  
कन्याया अस्तांशो मीनः तत्स्वामिनोर्गुरुधुर्य-  
वनमते मैत्रमतः कन्यांशः शुभः । कुंभस्यास्तांशः  
सिंहः तत्स्वामिनोर्मैत्राभावात्कुंभांशो न शुभः अत  
एव नवांशाः शुभा अखिलैरुक्ताः । तथा चाहुः ।  
'प्राग्लग्रे द्विपदगृहात्कुर्यादन्यांशकोदयो नाशम्। द्विप-  
देष्वपि कन्यातौलिमिथुनधन्वंशकाः शस्ताः ॥ ”  
इति । अयं ग्रंथकृतोऽभिप्रायः सप्रपंचं मया वर्णितः।  
पारमार्थिकत्वे तदवार्चीनानां नयनावरणमात्रम् । तद्य-  
था । यत्त्वया सिद्धांतितं तुलादिपूक्तनवांशेषु उदया-

स्तांशाधिपयोः स्वयंरयोः सखिता कारणमिति त-  
 हि मेपांशः तदधिपयोः सत्यपि मैत्रे कथं त्यज्यते ।  
 अशुभक्षत्वादिति चेत्तन्नावृपांशस्य सत्यपि मैत्रे त्या-  
 गात् । अमनुजत्वादिति च । तर्हि शौनकेन मीनांशः  
 कथमादृतः शुभगृहद्विपदास्तलवः स चेत्तदपि न ।  
 तर्हि तुलांशः कथमाद्रियत इति त्वयैवोच्यते । उदया-  
 स्तांशयोरेकतस्तादृशो गृह्यत इति चेत्तदपि न ॥ 'ज-  
 गतिनैकवशात्किल सौहृदम्' इति त्वयैवोपन्यस्तत्त्वा-  
 त् । अथ चेत्तवेदमभिप्रेतम् । 'उदयद्विपदांशनियामक'  
 इतितदपि ना 'जगति नैकवशात्किल सौहृदम्' इति त्व-  
 यैव स्मारितत्वात् । अस्तांशोऽपि द्विपदो भाव्यः । अथ  
 परिशेषात्प्राग्लभ्ये द्विपदगृहात्कुर्यादन्यांशकोदयो ना-  
 शम् । इत्यागमबलादिदमित्येव वक्तव्यं तर्ह्यस्माकं फ-  
 लितं मनोभिलपितम् आगम एव कथं तुलांशादिषु  
 कारणं तत्स्वीकर्तव्यः । किमर्थं कारणांतरं ग्रहमैत्रं  
 कल्पनीयं कल्पनालाघवात् । शौनकेन मीनांशस्य  
 अमनुजत्वेऽपि स्वीकाराच्च । अतो नवांशोक्त्या यवनमै-  
 त्रशास्त्रस्य संस्थापनं न संयुज्यते । किमनेन नवलवा-  
 धिपती इत्यादिना ग्रंथसंदर्भेण । अतएव वराहः ॥  
 'ज्योतिषमागमसिद्धं विप्रतिपत्तौ न योग्यमस्माकम् ॥  
 स्वयमेव विकल्पयितुं किंतु बहूनां मतं वक्ष्ये ॥' इति ।  
 अतो वराहेण यवनमते केपांचिदेवं मतमित्युक्तं सत्यो-

क्तं ग्रहमैत्रं बहुमतमतः सर्वजनेषु प्रसिद्धतरं यवन-  
मैत्रं त्वेकदेशीयमतो महद्भिरुपेक्षितं किमर्थमत्र ग्रं-  
थकृतोभिनिवेशः किमपराद्धं च सत्यादिभिः । उच्यते ।  
ग्रंथकृद्भिः स्वगौरवार्थं किञ्चिदपूर्वं वक्तव्यं वृथैव म-  
हतामप्युक्तिः किञ्चिदूपणीयेत्यलं बहुक्त्या । अथैषा-  
मप्यंशानां विशेषमाह । अस्तपतीति । अस्तोऽस्तांशः  
तस्य पतिस्तस्य द्विषन् शत्रुः स ईश्वरो यस्य न-  
वांशस्य स तथा । उदयास्तांशाधिपयोस्तात्कालिक-  
शत्रुत्वे स नवांशस्त्याज्य इत्यर्थः । तुलादिषु हि उद-  
यास्तांशाधिपयोः स्वाभाविकशत्रुत्वाभावात् विशेष-  
पांतरमाह । बलबंध्येति । बलेन बंध्यः पतिर्यस्य नवां-  
शस्य स तथा यस्यांशस्य पतिः स्थानादिवलैर्यदि हीन  
स्तदा तमपि त्यजेदित्यर्थः ॥ ८ ॥

लवपतिः कुरुते लवलग्नयोः पतिमृतिं  
त्रिवसुव्ययवित्तगः ॥ नवलवास्तपतिः  
प्रतिहंत्यसून्मृगदृशश्च तदस्तभयो-  
स्तथा ॥ ९ ॥

अथोदयास्तशुद्धिमाह । लवपतिः लवलग्नयोस्त्रि-  
वसुव्ययवित्तगः पतिमृतिं कुरुते अंशाधिपतिरंशाच्छिन्ना  
द्वा तृतीयाष्टमद्वादशद्वितीयस्थितो भर्तृमृतिं कुरुत  
इत्यर्थः । इयमुदयशुद्धिः । अथास्तशुद्धिः । नवलवेति ।



नवलवादस्तं सप्तमं तस्य पतिः तदस्तभयोर्लवल-  
ग्रयोरस्तभे सप्तमभवने तयोः तथा तद्वत्  
त्रिवसुव्ययवित्तगः मृगदृशो बध्वा असून्प्राणा-  
न्प्रतिहन्ति नवलंवात्सप्तमाधीशो नवांश-  
सप्तमाल्लग्नसप्तमाद्वा त्रिवसुव्ययवित्तगस्तदा वधूं हं-  
तीत्यर्थः । ननु पूर्वैर्यवनादिभिर्नवांशाधीशस्य नवां-  
शदृष्टौ लग्नदृष्टौ च सत्यासुदयशुद्धिरुक्ता कथमत्रोक्तं  
त्रिवसुव्ययवित्तग इति । उच्यते । “पष्ठं द्वितीयभवनं  
द्वादशमेकादशं न पश्यन्ति । स्वस्थानाद्दीक्ष्यन्ते ग्रहा  
स्तथान्यानि भवनानि” इत्यत्र ग्रहस्थानाद्येदेकादशं  
तस्माद्ब्रह्मस्तृतीय एव भवति । एवं यत्पष्ठं तस्माद्ब्रह्मो-  
ष्टम एव । यद्वितीयं तस्माद्द्वादशः यद्ब्रह्मं तस्मा-  
द्वितीय इति । अतो यदुक्तं त्रिवसुव्ययवित्तग इति  
तद्ब्रह्मादर्शनमेवेति न विरोधः । अथान्यैः केवलमत्राह-  
ष्ट्यैवोदयशुद्धिरुक्ता । “युतः स्वनाथेन विलोकितो वा  
नवांशको लग्नगतो नराणाम् ॥ निहन्त्यनिष्टानि तथापमृ-  
त्युं कलत्रसंस्थश्च नितंविनीनाम्” इति । तदलाभे  
लग्नदृष्ट्या वा । “पश्येद्यदांशाधिपतिर्विलग्नं लग्नेऽथ-  
वा स्यादुदयांशशुद्धिः । अस्तांशनाथः स्मरभं  
विलग्न्यात्पश्येत्तदास्तांशविशुद्धिरुक्ता ।” इति ॥ ९ ॥

उभयदृक्फलदा वलदाढ्यतो लवह-  
शुद्धहते कियदूनताम् ॥ तदिह केव-

ललग्नदृशः फलं शकलितं कलितं  
यवनेश्वरैः ॥ १० ॥

अत्र तु लवलग्नयोरिति यौगपद्यमुक्तं तत्कथमित्याह ।  
उभयस्या दृगुभयदृक् । नवांशस्य लग्नस्यापि या दृ-  
ष्टिरित्यर्थः । सा फलदा स्यात् । कस्मात् बलदाढ्यतः  
बलस्य दृढत्वात् लग्नं हि शरीरमंशस्तु तदवयवरूपः  
उभयदर्शने सति सम्यक् फलमिति । अतो लवदृक्  
अंशदृष्टिः कियदूनतामुद्रहते धारयति । किं परिमाण-  
मस्येति कियत् कियच्च तदूनं च तस्य भावः कियदून  
सा केवलमंशदृष्टिः किञ्चिन्न्यूनफलेत्यर्थः । तत्तस्मादतः  
कारणादिहास्मिन्निवाहे केवललग्नदृशः फलं शकलि-  
तमर्धितं यवनेश्वरैः कलितं लक्षितं शकलं संजातम-  
स्येति शकलितम् । अंशदृष्टिं विना केवलाया लग्नदृष्टेः  
फलमर्धितं यवनैः प्रोक्तमित्यर्थः ॥ १० ॥

स्पृशति किं न कदाचिददृश्यता-  
मवयवोऽवयविन्यवलोकिते ॥ अ-  
मतकेवललग्नदृशां न तन्मतमतर्कस-  
हंसमुपास्महे ॥ ११ ॥

अमुमुक्तमेवार्थं युक्त्या दृढयति । यस्मात्कार-  
णात् अवयविनि विलोकिते सति अवयवः कदाचिद-  
दृश्यतां किं न स्पृशति । अपि तु अवयविन्यवलोकि-

तेऽपि कदाचिदवयवोऽप्यदृश्यतां स्पृशत्येवेति । द्वौ नौ प्रकृतार्थं ब्रूतः । दृष्टेऽप्यवयविनि कदाचित्कश्चन तदवयवो न दृश्यत इत्यर्थः । तत्तस्मात्कारणाद-  
मतकेवललग्नदृशां न मता केवला लग्नदृग्येषां तेषां मतं न अतर्कसहम् । अपि तु तर्कसहमेव तर्क सहते तत्तर्कसहं वयं समुपास्महे अनुसरामः । येषां केवल-  
लग्नदृष्टिर्न संमता अपि तु उभयदृक् संमता तेषां मतं तर्कसहं तद्वयं मन्यामहे इत्यर्थः । यदुक्तं 'उभ-  
यदृक्फलदा' इति तत्र केवललग्नदृष्टिं मन्यमानः पर आक्षिपति ॥ ११ ॥

ननु नवांशकमंशपतिर्निजं कलयती  
हविलग्नविलोकने । यमवलोकयते स  
तनोः पृथग्यदि तदिष्टफलाय जलां-  
जलिः ॥ १२ ॥

ननु इत्यहो । इह विवाहे । अंशपतिर्लग्नविलोकने सति निजं नवांशं कलयति पश्यति तस्य लग्नांतत्वा-  
त् । अन्यथात्वे अनिष्टमाह । यमवलोकयते इति । नवांशपतिर्यं नवांशमवलोकयते स यदि तनोः सका-  
शात्पृथगस्ति तदा तदिष्टफलाय तस्य लग्नस्य इष्टफलं तवापि संमतं तस्मै जलांजलिः स्यात् । जलां-  
जलिदानं मृतस्यैव । अतो लग्नफलं गतमेवेत्यर्थः ।

‘तनुफलं हि लवानवलंबते’ इति तवापि संमतं नवांशा-  
धीनं लग्नफलमिति तस्य मज्जनमेव स्यादित्यनि-  
ष्टप्रसंजनम् ॥ १२ ॥

अष्टथगस्ति सचेन्ननु पश्यता तनुम-  
सावधिपेन निरूपितः ॥ हृदयहारद्व-  
शेव मृगीदृशः प्रणयिना तरलस्तरल-  
द्युतिः ॥ १३ ॥

अत्राप्यनिष्टमुभयदृष्टिं मन्यमानः स्वयमाह ।  
ननु अहो स नवांशश्चेदष्टथगस्ति लग्नांतर्गत एवास्ति  
तदा तनुं लग्नं पश्यता अवलोकयता अधिपेन लग्न-  
स्वामिना असौ नवांशो निरूपितो दृष्ट एव स्यात् ।  
रूपं अवलोकने चुरादिः । केन क इव । प्रणयः प्रीणनं  
तदस्यास्तीति प्रणयी प्रियः तरलो हारमध्यमणिः  
कथंभूतेन प्रणयिना मृगीदृशः अंगनाया हृदयहारद्व-  
शा हृदये हारस्तं पश्यतीति हृदयहारद्वक्तेन तथा-  
कथंभूतो मध्यमणिः तरलद्युतिः तरला चंचला द्युति-  
र्यस्यासौ तथा प्रियेणांगनाया हारे दृष्टे सति तदंतर्ग-  
तो मध्यमणिर्दृष्ट एवेति । तथा लग्नं पश्यता तदाधि-  
पेन तदंतर्गतो नवांशोऽपि दृष्ट एवेत्यर्थः । अतो नवांश-  
पतिना नवांशो द्रष्टव्य इति यत्त्वयोच्यते तद्व्यर्थ-  
मित्यनिष्टप्रसंजनम् । अतश्च प्रागुक्तकालमीमांसनाच्च

नवांशपतेर्लग्नद्वष्टिस्तदन्तर्गतनवांशद्वष्टिश्च विलोक्ये-  
ति सिद्धम् । ननु लग्नपतिना लग्नं द्रष्टव्यमस्तप-  
तिनास्तलग्नमित्येतदपि केपांचिन्मतमस्ति तदपि  
दूषयति ॥ १३ ॥

तनुपतिस्तनुमस्तमथास्तपो यदि न  
पश्यति नश्यति तत्कृतम् ॥ इति परः  
परमत्र मते पतेल्लवतरौ च तु रौद्र इ-  
वाशनिः ॥ १४ ॥

यदि तनुपतिस्तनुं न पश्यति अथ अस्तपो लग्ना-  
त्सप्तमाधीशो स्तं लग्नात्सप्तमं न पश्यति तदा तत्कृ-  
तं लग्नकृतमस्तलग्नकृतं च शुभं न पश्यति इति परः  
कश्चिदाह । वत अहो अस्मिन्मते लवतरौ लवतरु-  
रिव तरुस्तस्मिन्नौद्र उग्रः शाणोद्धृष्टः अशनिः खड्गः  
परं पतेत् । परमित्यव्ययमुत्कृष्टार्थं । अस्मिन्मते न-  
वांशवृक्षोपरि अत्यर्थं रौद्राऽशनिपातो भवेन्नवांशफ-  
लोच्छेद इत्यर्थः ॥ १४ ॥

जननलग्नभयोर्मृतिशासितुर्मृतिगत-  
स्य च राशिनवांशकाः ॥ तनुगता  
यदि तत्तनुते वधूरतिलका तिलका-  
य जलांजलिम् ॥ १५ ॥

एवं सयुक्तिकामुदयास्तशुद्धिमुक्त्वाधुना जन्म-  
 राशिलग्न्याभ्यामंशशुद्धिमाह । लग्नं च भं च लग्नभे ज-  
 नने लग्नभे जन्मलग्नजन्मराशी तयोर्मृतिशासितुः  
 अष्टमस्थानाधिपतेः मृतिगतस्य ताभ्यामष्टमस्थित-  
 ग्रहस्य च राशिनां नवांशकाः यदि विवाहकाले तनु-  
 गता लग्नस्थिताः स्युः तदा वधूरतिलका\* अभर्तृका  
 सती तिलकाय भर्त्रे जलांजलींस्तनुते विस्तारयति  
 ददातीत्यर्थः । तिलकः शृंगारकतिलकः नास्ति ति-  
 लको यस्याः सा अतिलका विधवेत्यर्थः । तिलक  
 इव तिलकस्तिलकः भर्तेति यावत् । मृतभर्त्रे स्व-  
 यमेवांजलिदा । अनेन वध्वा अनपत्यतापि सूचिता ।  
 एतदुक्तं भवति । कस्यचिज्जन्मलग्नं वृषः जन्मराशिः  
 कर्कः । तयोरष्टमभवने धनुर्धरकुंभौ तयोरधिपती  
 गुरुशनी । एतौ नित्यौ कदाचित्तत्र धनुषि कुंभे वा  
 कश्चन ग्रहः स्थितः स चेच्छुक्रः तेषां गुरुशनिशुक्राणां  
 राशयो धनुर्मानमकरकुंभतुलावृषाः एष्वन्यतमस्य  
 नवांशो यदि तस्य विवाहे लग्नगतो भवति तदा परिणी-  
 ता स्त्री अनपत्याविधवा भवेदिति । एवं वध्वा अपि  
 जन्मलग्नजन्मराशेश्च ॥ १५ ॥

व्यालिवृषं ननचर्क्षविलग्नयोर्भवनम-  
 ष्टममभ्युदितं त्यजेत् ॥ सितपुलस्ति-

मतेन तदीशता तनुसमेति समेति  
न दूषणम् ॥ १६ ॥

अथाष्टमलग्नदोषं तदपवादं चाह । जननर्क्षविल-  
ग्नयोर्जन्मराशिजन्मलग्नयोरष्टमं भवनमभ्युदितमुदयं  
गतं विवाहे त्यजेत् । जन्मराशौर्जन्मलग्नाद्वा अष्टमं  
लग्नं त्यजेदिति तात्पर्यार्थः । कथंभूतं व्यलिवृषं वृश्चि-  
कवृषव्यतिरिक्तं वृश्चिकवृषावष्टमावपि न त्याज्यावि-  
त्यर्थः । अत्र हेतुमाह । सितपुलस्तीति । तयोरलिवृष-  
योरीशता स्वामिता तनुसमायोहि लग्नाधिपतिः स  
एव अनयोरिति इति हेतोः सितपुलस्त्योर्मते दूषणं न  
समेति न संगच्छते तनुरिति राशेरप्युपलक्षणम् । एत-  
दुक्तं भवति । वृश्चिकोष्टमो मेपस्यैव भवति यो वृश्चिक-  
स्याधिपः स एव मेपस्य एवं वृषोष्टमस्तुलाया एव तयो-  
रधिपतिरेक एव अत एकाधिपतित्वात् वृषवृश्चिक-  
योरष्टमत्वे न दोष इति । केचित्सुहृत्त्वेपि न दोषमाहुः ।  
झपकुलीरवृषालिमृगांगनाजननराशिविलग्नमहाष्टमा ॥  
शुभफला भृगुणाकथितास्तयोरधिपती सुहृदौ हि  
परस्परमिति ॥ १६ ॥

चरलवं चरवेशमगमुत्सृजेन्मृगतुला  
धरगे मृगलक्ष्मणि ॥ युवतिरत्र भवे  
त्कृतकौतुका मदनवत्यनवत्यजनो  
न्मुखी ॥ १७ ॥

अथ चरत्रयसंनिपातदोषमाह । चरलवं चरनवां-  
 शंचरवेश्मगंचरराशिलग्नस्थितमुत्सृजेत् परित्य-  
 जेत् कस्मिन्सति मृगलक्ष्मणि मृगतुलाधरगेसति  
 मृगः शशः लक्ष्मलांछनं यस्यांसौ तथा तस्मिंश्च-  
 द्रेमकरस्थे तुलास्थेवेति चरामेपकर्कतुलामकराः  
 तत्र कर्कमेपस्थिते चंद्रे विवाहनक्षत्राभावात् मृगतु-  
 लाधरग इत्युक्तम् । अत्र फलमाह । युवतिरिति । अत्र  
 योगे कृतकौतुका युवतिः मदनवतीसती अनवत्य-  
 जनोन्मुखी भवेत् कौतुकं विवाहकंकणं कृतं कौतुकं  
 यस्याः सा तथा विवाहितेत्यर्थः । न नवः अनवः  
 पुरातनस्तस्य त्यजनंतत्रोन्मुखी उत्सुका मदनार्त्ता  
 सती पूर्वभर्तृपरित्यागे उत्कंठिता परपुरुषगामिनी-  
 त्यर्थः । केचित्तुवर्गोत्तमे सति नैपदोष इत्याहुः । वर्गोत्त-  
 मे वरगृहे न चरो नवांश इति अतएवाहुरन्येपि ।  
 'कर्कलग्नेथवामेपेवटांशोयदिदीयते । तुलायां मकरे  
 चंद्रेवैधव्यं लभते तदा' इति ॥ १७ ॥

सुखगृहं सुखहृत्तनुजन्मनोरवलताश  
 वलैः सुखकर्तृभिः ॥ अपि तपोव्ययभं  
 व्ययभं कर्तृचेद्विगतवाधनका धनका  
 रिणः ॥ १८ ॥

अथ चतुर्थद्वादशलग्नस्य दोषं तदपवादं चाह । तनुश्च



जन्म च तनुजन्मनी तयोस्तनुजन्मनोः जन्मलग्नज-  
न्मराश्योः सुखगृहं चतुर्थभवनं तनुगतमित्यनुवृत्तिः ।  
सुखहृत्सुखनाशनं स्यात्तौकैः सुखकर्तृभिर्गृहैः अवल-  
ताशवलैः 'कालाच्च' इति सप्तम्यर्थे तृतीया। अवलानां  
भावः अवलता तथा शवला मलिनास्तैर्वलरहितैरित्य-  
र्थः । अर्थात्सुखकर्तारो ग्रहा यदि वलिनःस्युस्तदा  
जन्मलग्नराशिभ्यां चतुर्थलग्नं सुखहृत्स्यादिति ।  
अपीति । तयोर्जन्मलग्नजन्मराश्योः व्ययभं द्वादशभ-  
वनमपि।तनुगतं तदा व्ययभं कृतं स्यात् व्ययं भनक्ती-  
ति व्ययभं कृ व्ययनाशनं तदा कदा यदा धनकारिणो  
ग्रहाः विगतबाधनकाः स्युः । विगतं बाधनकं येषां ते  
तथा बाधारहिताः निर्दुष्टा इत्यर्थः । यदा धनदातारो  
ग्रहाः दोषरहिताः स्युस्तदा जन्मलग्नराश्योर्द्वादशं  
लग्नं व्ययनाशकरं स्यादित्यर्थः। अर्थादेते निर्वलास्तदा  
एतद्व्ययकरं स्यादिति । तथाच गर्गः " चतुर्थद्वादशे  
कार्ये लग्ने बहुगुणान्विते" इति । अपिचाकार्ये  
योगवला द्वादशे चतुर्थे इति ॥ १८ ॥

अशुभकृत्स्वलगः खलु योऽंशको जनु-  
रनेहसि नेह सितांशुगे ॥ तनुगतेपि  
शिवं युवयोषयोर्वलवतो लवतो नभ-  
यं क्वचित् ॥ १९ ॥

अथ जन्मगृहवशेन नवांशस्य दोषान्तरं तदपवादं

चाह । जनुषः अनेहा जनुरनेहास्तस्मिन् जन्मकाले  
 अंशक अशुभकृत्खलगो भवति । अशुभं करोती-  
 त्यशुभकृत् सचासौ खलश्च, अशुभकृत्खलः तं  
 गच्छतीति अशुभकृत्खलगः जन्मकाले दुष्टकारि  
 पापग्रहो यस्मिन्नवांशेस्ति स नवांशइत्यर्थः ।  
 इहास्मिन्नवांशे सितांशुगे सितांशुं चंद्रं गच्छतीति  
 सितांशुगः तस्मिन् सितांशुगे तनुगते लग्नगतेपि ।  
 अपिबार्थे । युवयोपितोर्वरवध्वोः शिवं शुभं न स्यात् ।  
 वरवध्वोर्जन्मकाले दुष्टकारी पापग्रहो यस्मिन्न-  
 वांशेस्ति स नवांशो यदि विवाहकाले चंद्रगतो लग्न-  
 गतोवा भवेत्तदा अशुभकृत्स्यादित्यर्थः । इत्या-  
 दिकस्यांशजनितदुष्टस्यापवादमाह । बलवतइति ।  
 बलवतः बलयुक्ताल्लवतोंशात्कचिद्भयं न स्यात् ।  
 चेज्जातकोक्तेन अधिपयुतो दृष्टोवेत्यादि प्रकारेण  
 बलवानंशराशिस्तदा यस्यकस्याप्यंशजनितस्य दुष्ट-  
 स्य भयं न स्यादित्यर्थः ॥ १९ ॥

अनुजनुर्मृतिगो मृतिपश्च यः सतनु-  
 गस्तनुते न शिवं क्वचित् ॥ इति वि-  
 वक्तिरियं फलदा सदा सद्ग्रहसिध्य-  
 ति चेत्समयः स्फुटः ॥ २० ॥

अथ जन्मकालिकग्रहवशेन दोषांतरमाह । जनु-

रनुक्रम्य अनुजनुरव्ययीभावः । अथवा अनुगतो  
 जनुः अनुजनुः 'अत्यादयःक्रांताद्यर्थेद्वितीयया' इति  
 तत्पुरुषः पुंवत् "जनुर्जननजन्मानि" इत्यमरः । जन्म-  
 कालानुक्रमेण यो ग्रहो मृतिगजन्मलग्नादष्टमः यश्च  
 जन्मलग्नान्मृतिपः अष्टमस्थानाधीशः सग्रहो यदि  
 विवाहकाले तनुगतो लग्नगतस्तदा शिवं शुभं क-  
 चिन्न तनुते न कदाचिच्छुभं करोतीत्यर्थः । इतीयं  
 जन्मकालवशेन या उक्ता विविक्तिः विवेकः विवेच-  
 नं विविक्तिः सा सदा तदा फलदा स्यात् । तदा  
 कदा चेत्स जन्मकालो विवाहकालश्च इह काले  
 स्फुटः सिद्ध्यति । यदा घटीपलात्मिकः स्फुटो  
 जन्मकालो विवाहकालश्च साधितः स्यात्तदैवेदं सूक्ष्म-  
 फलविवेचनं स्यान्नान्यथेत्यर्थः ॥ २० ॥

इति विवाहवृन्दावने नवांशचिंताध्या-  
 यश्चतुर्थः ॥ ४ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरा-  
 त्मजगणेशविरचितायां विवाहवृन्दावनटीकायां वि-  
 वाहदीपिकायां नवांशचिंताध्यायश्चतुर्थः ॥ ४ ॥

अथ लग्नवलाध्यायः ॥ अरिपराक्र-  
 मलाभविनाशगोरविरविश्रमसौख्य  
 मुतार्थदः ॥ मदनमूर्तिशयः शयसंग्र

हे मृगदृशामशनिः शनिराहुवत् ॥१॥

एवं लग्ने नवांशशुद्धिमभिधायाधुनाग्रहवलशु-  
द्धिमाह । तत्रादौ लग्नाद्रवेः शुभाशुभस्थानान्याह ।  
अत्रापि द्रुतविलंबितवृत्तानि । अरिः पष्ठं पराक्रम-  
स्तृतीयं लाभ एकादश विनाशोष्टम एषु गृच्छति तथा  
लग्नादेषु वर्तमानो रविः मृगदृशां स्त्रीणां शयसंग्रहे पा-  
णिग्रहे अविश्रमसौख्यसुतार्थदः स्यात् नास्ति विश्रमो  
विश्रांतिर्यस्य तदविश्रमं तच्च तत्सौख्यं च  
तद्ददातीति तथा 'पंचशाखः शयः पाणिः' इत्यमरः ।  
शेषेष्वष्टसु स्थानेषु दुष्टइत्यर्थसिद्धम् ॥ तत्राप्यति-  
दुष्टस्थानद्वयमाह । मदनेति । मदनमूर्तिशयः अ-  
शनिः स्यात् । अतिदुष्टः स्यादित्यर्थः । मदनः सप्तमं  
मूर्तिर्लग्नं तत्र शेतेसौ मदनमूर्तिशयः सप्तमस्थो लग्न-  
स्थोवेत्यर्थः । अशनिरिवाशनिः खड्गः घातक इति यावत् ।  
शनिराहुवत् । यथैषु स्थानेषु शनिराहु तथैव रविरिति  
शनिराह्वोरपीदमेव फलमिति भावः । अत्र राहुशब्देन  
केतुरपि गृह्यते । तस्यापि तद्रूपत्वात् । यतो वक्ष्यति  
च "वृत्तपातमपरं खपाततो राहुः" इत्यादि । अतएव  
स्पष्टमाह । श्रीपतिः "प्रागलग्नाद्रविन्दनेन शिखिना  
स्वर्भानुना च क्रमात्" इति ॥ १ ॥

त्रिधनलाभसुखेषु शुभः शशी निध-

नमूर्तिरिषुष्वतिगर्हितः ॥ अशुभशु-  
क्रसखः सखनत्यसून्दिनकरोनकरो  
न करोति शम् ॥ २ ॥

अथ चंद्रस्य त्रयस्तृतीयं धनं द्वितीयं लाभ  
एकादशं सुखं चतुर्थमेषु शशी शुभः स्यात् ।  
शेषेष्वशुभः तत्राप्यतिदुष्टान्याह । निधनेति । निध-  
नमष्टमं मूर्तिर्लग्नं रिषुः षष्ठमेष्वतिगर्हितोतिदुष्टः ।  
एतत्प्रसंगेन दोषांतरमाह । अशुभइति । अशुभश्च  
शुक्रश्च अशुभशुक्रौ तयोः सखा सतथा "राजाहःस-  
खिभ्यष्टच् " पापयुक्तः शुक्रयुक्तो वेत्यर्थः । असून्प्रा-  
णान् खनति प्राणनाशको भवतीति । अर्थाद्बुधयुक्तो  
गुरुयुक्तो वा शुभः । दोषांतरमाह । दिनकरोति । दिनकरो  
नकरः शं सुखं न करोति दिनकरेण ऊनाः करा रश्मयो  
यस्य स तथा अस्तंगत इत्यर्थः ॥ २ ॥

अवनिजस्त्रिभवारिषु वृद्धये मृतिक-  
रोमृतिमूर्तिमदाश्रितः ॥ इह नभो  
युजिजीवदृशं विना च्युतनयातनया  
मिषभुग्वधूः ॥ ३ ॥

अथ भौमस्य अवनेर्जातो अवनिजो भौमः त्रिभ-  
वारिषु वृद्धये भवति शेषेषु नवसु दुष्टः तत्राप्यतिदु-  
ष्टानि । मृतीति । मृतिरष्टमं मूर्तिर्लग्नं मदः सप्तम-

मेतानि आश्रितः एषु स्थित इति यावत् । मृतिकरः  
 स्यात् इहास्मिन् भौमे नभोयुजि सति नभसा  
 युनक्तीति नभोयुक्तस्मिन्नभोयुजि दशमस्थे सति  
 वधूःच्युतनया सती तनयामिषभुक् स्यात् च्युत-  
 स्त्यक्तो नयोयया सा तथा अन्यायमार्गवर्तिनी  
 तनयस्यामिषं मांसं भुनक्तीति तथा । अस्यापवाद-  
 माह । जीवदृशं विना तस्मिन् दशमस्थे भौमे गुरु-  
 णा दृष्टे सति नायं दोष इत्यर्थः ॥ ३ ॥

व्ययगृहं विरहय्य हिमांशुजःसकल-  
 वेश्मसुखेमसुतार्थदः । सनियतं विद-  
 धातिवधूवरं यमकरे मकरेङ्गित-  
 मृत्युगः ॥ ४ ॥

अथ बुधस्य हिमांशुजो बुधद्रादशगृहं विरहय्य-  
 पृथक्कृत्य शेषेषु सप्ताष्टमव्यतिरिक्तेषु वेश्मसु स्था-  
 नेषु वेश्म गृहं सुताः पुत्राः अर्थो द्रविणं तत्प्रदः  
 सप्तमाष्टमयोस्तु अतिदोषमाह । सनियतमिति । सबुधः  
 मकरेङ्गितमृत्युगः वधूवरं यमकरे नियतं विदधाति  
 करोति मकरेण इङ्गितं चेष्टितं यस्य स मकरेङ्गितो  
 मदनः सप्तमं मृत्युरष्टमं तत्र गतो बुधो वधूवरं य-  
 महस्ते विदधाति मारयतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

गुरुरनन्त्यमदेषुमुदं श्रियंसृजतिका

लगृहेगृहभंगदः ॥ अशुभकृन्मकरेपि  
करग्रहे न मृगराजगतो जगतो  
हितः ॥ ५ ॥

अथगुरोः अंत्यं द्वादशं मदः सप्तमं ताभ्यामन्यानि अ-  
नंत्यमदानि जेषु द्वादशसप्तमव्यतिरिक्तेषु स्थितो गुरुः  
मुदं हर्षं श्रियं लक्ष्मीं च सृजति ददाति । तत्राप्ये महा-  
दोषमाह । कालगृहइति । कालो मृत्युः तद्ग्रहमष्टमं  
तत्र स्थितो गुरुर्गृहभंगदः स्यात् गृहं भार्या तस्या भं-  
गो मृतिस्तत्प्रदः । एतत्प्रसंगेन गुरोर्दोषांतरमाह ।  
अशुभकृदिति । मकरेपि स्थितो गुरुः करग्रहे अशुभ-  
कृत्स्यात् नीचराशिस्थितत्वात् । दोषांतरमाह नमृ-  
गेति । मृगराजः सिंहस्तत्र गतो गुरुः जगतो विश्वस्य  
करग्रहे न हितः न शुभः ॥ ५ ॥

सहपत्ननिमीलनमन्मथे प्रथमदेवगु-  
रुर्गुरुभीतिकृत् ॥ वहति शेषगृहेषु म  
होत्सवं व्ययगतः समतांसमतां  
तरात् ॥ ६ ॥

अथ शुक्रस्य सह सहजं तृतीयम् । एकदेशग्रहणेन  
नामग्रहणात् । सपत्नः शत्रुः पृष्ठं निमीलनं मरणमष्टमं  
मन्मथो मदनः सप्तमम् । एषु प्रथमदेवगुरुः गुरुभीति-  
कृत्स्यात् प्रथमादेवा दैत्याः 'पूर्वदेवाः सुरद्विप' इत्य-  
भिधानात् । तेषां गुरुः शुक्रः गुरुभीतिर्महाभयं मर-

णादितत्कारी भवेत् शेषगृहेष्वर्षसु स्थानेषु महोत्स-  
वान्वहति प्रापयति ददातीत्यर्थः । तत्रद्वादशे विशेषः  
व्ययगतइति । सशुक्रोव्ययगतो द्वादशस्थः मतांतरा-  
दन्येषां मते समतां मध्यत्वं वहति तथाच तद्वाक्यं  
“केप्याहुरंत्ये शुभदौसितेज्यो”इति । शनिराहुकेतूनां  
फलं राविवदित्युक्तमेव ॥ ६ ॥

खलकृतातनुरोहिणिमित्रयोर्दुरधरावि-  
धुरांकुरुतेवधूम ॥ श्रुतिशरांशमितस्म-  
रभेतयोर्ग्रहमपुण्यमपुण्यमिव त्य-  
जेत् ॥ ७ ॥

एवं प्रातिस्विकं भावफलमुक्त्वाधुना कर्तरीलक्षणं  
विशेषफलं जामित्रफलं चाह । तनुर्लग्नं रोहिण्या मित्रं  
रोहिणिमित्रं रोहिणीभर्ताचंद्रः “उचापोःसंज्ञायाम्”इति  
ह्रस्वः तयोर्लग्नचंद्रयोः खलकृता पापग्रहकृता दुरधरा-  
वधूं विधुरां वियुक्तां कुरुते।दुरधराजातके प्रसिद्धा “उ-  
भयस्थितेर्दुरधरा”इति।लग्नाच्चंद्राद्वा द्वितीयद्वादशस्थ  
योः पापग्रहयोः सतोः पापग्रहकृता दुरधरा स्यात् ।  
सात्र कर्तरीत्युच्यते । सा वधूं विधवां कुरुते । अथ  
जामित्रदोषः । श्रुतीति । तयोस्तनुरोहिणिमित्रयोः  
श्रुतिशरांशं पंचांशदंशमितं प्राप्तमपुण्यं पापग्रहं त्य-



जेत् । किमिव । अपुण्यमिव । लग्नं चंद्रो वा यस्मिन्न-  
वांशेस्ति तस्माच्चतुःपंचाशत्तमे नवांशे यादे पापोऽ  
स्ति तं पापग्रहं पातकवदूरं त्यजेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

क्षिपति सप्त दिनान्युदयास्तयोःसुर-  
गुरुश्च भृगुश्च गतैष्ययोः ॥ इह युगेपि  
युगस्य करग्रहस्फुटनमंगलदो गल-  
दोजसि ॥ ८ ॥

अथ गुरुशुक्रयोर्बाल्यादिदोषमाह । सुरगुरुर्भृगुश्च  
गतैष्ययोरुदयास्तयोः सप्तदिनानि क्षिपति शुभमि-  
ति शेषः । कालनैरन्तर्ये द्वितीया । गुरुः शुक्रो वा स्वो-  
दयादनन्तरं सप्तदिनानि बालः अस्तात्प्राक्च सप्त  
दिनानि वृद्धः क्षिपति प्रेरयति नाशयतीत्यर्थः । इहा-  
स्मिन्युगे युग्मे गुरुशुक्रयुगुले गलदोजसि सति युग-  
स्य वधूवरस्य करग्रहो विवाहः स्फुटमत्यर्थममंगलदः  
स्यात् । उत्वणं विशदं स्फुटमित्यभिधानात् गलत्  
ओजो बलं यस्य तद्गलदोजस्तस्मिन्गलदोजसि  
स्थानादिवलहीने अस्तंगते नीचास्थिते चेत्यादि  
सूचितम् ॥ ८ ॥

शिशुजरत्वमहान्युदयास्तयोर्दशचतु-  
र्दशचांगिरसः स्फुटम् ॥ उशनसो दश

पंच च पश्चिमे गतिवशां त्रिदशाहम-  
पश्चिमे ॥ ९ ॥

एवं मतांतरात्सामान्येन बालत्ववृद्धत्वे उक्त्वा दिना-  
दिकपरत्वेन तयोः सयुक्तिकं विशेषमाह । अंगिरसो  
बृहस्पतेः शिशुजरत्वं क्रमेण दश चतुर्दश अहानि  
स्फुटं स्यात् । शिशुश्च जरंश्च शिशुजरन्तौ 'जीनो  
जीर्णो जरन्नपि' इत्यमरः । तयोर्भावः शिशुजरत्वं द-  
श दिनानि ब्रालत्वं चतुर्दश वृद्धत्वमिति । अत्र स्फुट-  
मित्युक्तेः पूर्वं साधारण्येनोक्तमिति सूचितम् । उश-  
नसः शुक्रस्य शिशुजरत्वं पश्चिमे पश्चिमदिशि क्रमे-  
ण दश पंच च अहानि स्यात् । पश्चिमोदये दशदिनं  
बालत्वमस्ते पंचदिनं वृद्धत्वमित्यर्थः । अपश्चिमे  
पूर्वदिशि त्रिदशाहं स्यात् । त्रयश्च दश च त्रिदश  
त्रिदश च तानि अहानि त्रिदशाहस्तम् । कालनैरं-  
तये द्वितीया । अहःशब्दाद्वृत् । " रात्राह्नाहाः पुं-  
सि" । त्रिदिनं बाल्यं दशदिनं वृद्धत्वमित्यर्थः । कस्मा-  
द्गतिवशात् । शुक्रस्य वक्रमध्य एव पश्चिमास्तं पूर्वो-  
दयश्च भवत्यतोऽर्कस्य प्राग्गतित्वाच्छुक्रस्य पश्चिम-  
गतित्वाच्च गतियोगेन तदंतरवृद्धत्वे सति अल्पादि-  
नैरेव शुक्रस्योज्ज्वलता स्यात् । अतोऽत्र बालत्ववृद्ध-  
त्वमल्पदिनमुक्तम् । पश्चिमोदयपूर्वास्तौ तु मार्गगता-

वेव भवतः । अतस्तत्र गत्यन्तरेणांतरवृद्धौ सत्यां व-  
हुदिनैरुज्ज्वलता स्यादतस्ते बहुदिनमुक्ते अतोऽत्र  
हेतुर्गतिवशादिति ॥ ९ ॥

द्युमणिजीवलवोदयशासिनामुडुप-  
तेरिति पंचवलीं विना ॥ परिणमंति  
फलानि चलभ्रुवां फलविरिंचि विरिं-  
चिकृतान्यपि ॥ १० ॥

एवं लग्नाद्रहवलान्युक्तानि तत्र केपामावश्यकत्वं  
तदाह । द्युमणिः सूर्यः । जीवो गुरुः । लवोदयो शिष्टस्तौ  
लवोदयशासिनौ अंशपतिलग्नपती तेषां चतुर्णामुडु-  
पतेश्चंद्रस्य इति पंचवलीं विना चलभ्रुवां फलानि  
विरिंचिर्ब्रह्मा 'विरिंचिः कमलासनः' इत्यमरः । तेन  
कृतान्यपि शुभं विरिंचि परिणमंति । पंचानां वला-  
नां समाहारः पंचवली । चला चंचला र्यासां ताश्च-  
लभ्रुवः स्त्रियः तासां फलानि विरिंचंति तानि फलवि-  
रिंचि शुभनाशकानि । प्रथमावहुवचनं रिच विरेके ।  
कर्तरि क्तिप् परिणमंति परिपच्यंते । यत्र लग्ने द्युमणि-  
जीवादीनां पंचानां बलं न लभ्यते तदा स्त्रीणां सर्वा-  
णि फलानि ब्रह्मकृतान्यपि शुभनाशकत्वरूपं परि-  
पाकं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

व्ययगृहं बुधभार्गवजीवयुग्यदि

नतत्कुलमित्रजनेष्वपि ॥ कृपणता  
नरनीरजनेत्रयोरिति न शक्रमते क्र-  
मते मतिः ॥ ११ ॥ .

अथ द्वादशबुधगुरुशुक्राणां मतांतरमाह । व्यय-  
गृहं द्वादशस्थानम् । यदि बुधभार्गवजीवद्युग्न भवति ।  
यद्येकोऽपि व्ययस्थाने न भवेत्तदा नरनीरजनेत्रयोः  
नरो वरः नीरजं कमलं तद्वन्नेत्रे यस्याः सा बधूः वर-  
वध्वोः कृपणता स्यात् । केष्वपि कुलमित्रजनेष्वपि  
कुलमित्राणि कुलपरंपरागतमित्राणि । यद्वा कुलं पुत्र-  
भ्रात्रादि मित्राणि सुहृदः ते च ते जनाश्च तेष्वपि किं  
पुनरन्येषु इदं कस्य मतमित्याह । इतीति । इत्येवं-  
विधे शक्रमते इन्द्रमतविषये अस्माकं मतिर्न क्रमते  
न चलति । एवंविधे इन्द्रमतेऽस्माकं बुद्धिः न प्रवर्त-  
त इत्यर्थः । तथा च ऐन्द्रविवाहपटले 'बुधभार्गवजीवा-  
नामेकोपि यदि न व्यये । तदौदार्यं न दंपत्योः पुत्रपि-  
त्रंतिथिष्वपि' इति ॥ ११ ॥

इति विवाहवृंदावने लग्नवलाऽध्यायः  
पंचमः ॥ ५ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्म-  
जगणेशविरचितायां विवाहवृंदावनटीकायां विवाहदी-  
पिकायां लग्नवलाध्यायः पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

## अथ चंद्रबलाध्यायः ॥

कन्यकावितरणाय पूरुपः पात्रमा-  
त्रमिति नैदवं बलम् ॥ केचिदस्य वित-  
रति कोविदाः को विदां किल करो-  
तु तन्मनः ॥ १ ॥

एवं लग्नबलमुक्त्वाधुना वधूवरयोश्चंद्रबलविचार  
आरभ्यते । तत्रादौ मतांतरमनूद्य दूषयति । अत्राध्ययि  
स्थोद्धतवृत्तानि । कन्यकाया वितरणं क्षानं तस्मै  
कन्यादानाय । पूरुपो वरः 'पुरुषाः पूरुषा नराः' इत्यम-  
रः । पात्रमात्रं पात्रमेव पात्रमात्रम् । इति हेतोरस्य  
वरस्य ऐदवं बलम् । इंदोरिदमैदवं चंद्रबलं के-  
चित्कोविदा बुधाः । 'सन्सुधीः कोविदो बुधः' इत्यमरः ।  
न वितरति न ददाति । वरः पात्रमात्रमिति हेतोर्वरस्य  
विवाहे चंद्रबलं नावलोक्यमिति केषांचिन्मतं तद्वा-  
क्यं च "नाधिकारो नराणां च विवाहे गर्भशोधने"  
इति । तेषामुपहासमाह । को विदामिति । तेषां मनस्तन्म-  
नः किल कः विदां करोतु विचारयतु न कोऽपि तेषां मा-  
नसं त एव जानंत्वित्यर्थः । 'विदां कुर्वंत्वित्यन्यतरस्यां'  
इत्याम् लोटो लोपः लोटंतकृभोऽनुप्रयोगश्च । तेन  
विदामित्यामंतमव्ययम् ॥ अतोऽनयोर्व्यवधानेऽपि  
प्रयोगो घटते । यथा रघुकाव्ये 'तं पातयां प्रथममास  
पपातं पश्चात्' इति ॥ १ ॥

ईदृशं यदि ततः प्रतिग्रहग्राहिणोस्य  
किमभिप्रपंचितैः ॥ सांशनाडिगण-  
योनिशुद्धिभिर्जन्मलग्नभवनव्यया-  
ष्टमैः ॥ २ ॥

एवं ये मन्वानास्तेपामनिष्टमाह । ततस्तस्मादुक्त-  
हेतोः यदीदृशं पात्रमिति हेतोर्वरस्य चंद्रवलं दद्या-  
दिति । तदास्य प्रतिग्रहग्राहिणो वरस्य सांशनाडी-  
त्यादिभिरभिप्रपंचितैः सविस्तरं प्रतिपादितैः किमाप-  
चि विस्तारे।प्रति ग्रहं प्रतिगृह्णातीतिप्रतिग्रहग्राही अंश-  
श्चनाडिश्च गणश्च योनिश्च तेषां शुद्ध्यः ताभिः सह वर्त-  
मानानि तानितथा।जन्मनिलग्नभवने ताभ्यांव्ययाष्टगा-  
नि तानि तथा अयं भावः। यत्त्वयोच्यते वरः प्रतिग्रह-  
ग्राहक एव पात्रमात्रमतोऽस्य नैदवं बलम् । एवं चेत्तर्हि  
वरस्य पराशरः प्राह नवांशभेदात्'इत्यादिनांशशुद्धिः  
नाडीयोनिगणानांशुद्ध्यश्च जन्मलग्नजन्मराशिभ्यांद्वा-  
दशाष्टमगतानि लग्ननवांशादीनि सप्रपंचं कथं प्रतिपा-  
दितानि इत्यादीनि वरस्य त्वयापि गृह्यन्ते तर्हि  
एकं चंद्रवलं कथं न गृह्यते इति तस्यानिष्टम् ॥ २ ॥

लाग्निको नवलवः पुमंतकृत्स्वामि-  
ना यदि न युक्तवीक्षितः॥संगमं दिशः



तिदीर्घनिद्रया पत्युरिन्दुतनुकामगो  
ग्रहः ॥ ३ ॥

किंच अस्य श्लोकद्वयस्य एवमादीत्यनेन संबंधः ।  
लग्ने भवो लाग्रिकः नवलवो नवांशः यदि स्वामिना नि-  
जाधिपेन युक्तो वीक्षितो वा न स्यात् पुंसः अंतः  
पुमंतः अतोऽवसानं किंच संगममिति । इन्दुतनू ता-  
भ्यां कामगः सप्तमगो जामित्रस्थितो ग्रहः पत्युर्भर्तु-  
र्दीर्घनिद्रया मरणेन सह संगमं समागमं दिशति द-  
दाति दिश दाने । भर्तुर्मरणकृदित्यर्थः ॥ ३ ॥

चंद्रमस्युपचयात्परिच्युते चारुगो-  
चरचरैः परैरपि ॥ कर्तुरायतिशुभं स-  
भंगुरं निर्दिशंत्यसितशौनकादयः ॥ ४ ॥

चंद्रमसीति । चंद्रे उपचयाद्बृद्धेः सकाशात्परिच्युते बल-  
हीने सति कर्तुर्वरस्य आयतिशुभमुत्तरकालीनं शुभं  
'उत्तरः काल आयतिः' इत्यमरः । सभंगुरं सभंजनम् । भं-  
जेर्भावे कुरः । विनश्यादिति यावत् । असितशौनकादयो  
मुनयो निर्दिशन्ति कथयन्ति । कैरपि परेर्भावादिभिर्ग्र-  
हैश्चारुगोचरचरैरपि चारुश्चासौ गोचरश्च तत्र च-  
रन्ति ते तथा । गोचरे शुभस्थाने स्थितैरपि । अयं भा-  
वः । चंद्रे क्षीणत्वादिना बलहीने सति अन्यग्रहा-  
णां गोचरबललाभे सत्यपि वरस्योत्तरकालीनं सर्व-

शुभफलं नश्यतित्यसितशौनकादयो जगुः । उक्तं च  
तैः । न कुर्वीतास्तगे चंद्रे दुःस्थिते जन्मराशितः ।  
क्रूर्य ह्युते तद्वन्मंगलान्यखिलान्यपि'इति ॥ ४ ॥

एवमादिफलवादिनो नृणामेदं वल-  
मुशंति किं न ते॥ भानुरप्युपचये नृ-  
जन्मतो यन्मतोक्तिषु तदिष्टमे-  
व नः ॥ ५ ॥

इत्याद्यनिष्टप्रसंगेनतन्मतं दूषयति । नृणां एवमा-  
दिफलवादिनः एवमादीनि फलानि पुरुषाणामिच्छन्ति  
त एकं चंद्रलं कथं नेच्छन्तीति तेषामनिष्टः अतस्ते-  
रपि वरस्य चंद्रववलं स्वीकर्तव्यमित्यर्थः । यदुक्तं तैः  
“पुंसां रविवलं ग्राह्यम्”इति तत्स्वीकरोति। भानुरपी-  
ति । येषां मते यन्मते उक्तयः यन्मतोक्तयः तासु य-  
न्मतवचनेषु नृजन्मतः नरस्य जन्मराशेः सकाशा-  
द्भानुरुपचये भाव्य इत्यध्याहारः । गोचरे हि भा-  
नुरुपचयस्थान एव शस्तः तन्नोऽस्माकमपि इष्टं  
संमतमेव । तथा च तद्वाक्यम् ‘योनिः स्त्रीणां शिशिर-  
किरणश्चित्रभानुश्च पुंसाम्’ इत्यादि । अत्र यदुक्तं  
स्त्रीणामेव चंद्रवलं तन्निराकृतम् । यदुक्तं रविवल-  
मिति । तदस्माकमपीष्टमितिभावः । अतो वरस्य  
वध्वा अपि गोचरेण चंद्रवलं रविवलं च ग्राह्यमि-



बलं दिशत्यतिप्रसंगः । यच्च परमते ' योनिः स्त्रीणां  
न शिशिरकिरणः ' इत्यादि तदनुवदन्दूपयति ॥ ६ ॥

इंदुरिंदुवदनानुगं बलं यच्छति हि युव-  
तिग्रहो यतः ॥ सन्नृणामपि कथं पड-  
ष्टगः खंडयत्ययमसून्प्रसूतिषु ॥ ७ ॥

इंदुश्चंद्रमाः इंदुवदनानुगं बलं यच्छति ददाति  
इंदुरिव वदनं यस्याः सा इंदुवदना तामनु गच्छती-  
ति इंदुवदनानुगं । अंगनानुसारं यत इंदुः युवतिग्रहः स्त्री-  
ग्रहः तस्मात्तद्वलं स्त्रीणामेव न तु नराणामिति चेत्तर्हि  
अयं चंद्रमाः प्रसूतिषु जन्मकालेषु पडष्टगः सन्नृणां  
पुरुषाणामपि असून्प्राणान्कथं खंडयति । अयमर्थः ।  
चंद्रमाः स्त्रीग्रह इति कृत्वा विवाहे स्त्रीणामेव चंद्रवलं  
ग्राह्यं तर्हि तेनैव हेतुना जन्मकाले पष्टाष्टगेन चंद्रेण  
नृणामरिष्टं न कार्यं तच्च तेषामप्यस्ति । अतो वर-  
स्यापि चंद्रवलं ग्राह्यमिति सिद्धम् ॥ ७ ॥

होरयाऽपि हिमरश्मिरादृतः पुंस्फले-  
षु सुनफानफादिषु ॥ अत्रिराह बहु-  
लेऽपि तारका तारकां पतिवले बलीय  
साम् ॥ ८ ॥

एवं न केवलं पुरुषफले जातके न चंद्रः स्वीकृतः  
किंत्वन्येष्वपीत्याह । होरया जातकेन हिमरश्मिरा-

दृतः स्वीकृतः। केषु सुनफादिष्वपि पुंस्फलेषु योगेषु पुंसां फलं येषां ते तथा । रविवर्जं द्वादशगैरनफा चंद्राद्वितीयगैः सुनफा इत्यादिषु चंद्रयोगेषु अन्येष्वपि चंद्रकृतेषु राजयोगादिष्वपि जातकेन पुरुषफले चंद्रः स्वीकृत इत्यर्थः । अतो वरस्यापि चंद्रबलं विलोक्यमिति सिद्धम् । अथ कृष्णपक्षे केचित् तारां बलीयसीमाहुस्तद्विषयमुपन्यस्यति । अत्रिरिति । बहुले कृष्णपक्षेऽपि तारकापतेश्चंद्रस्य बले सति तारकां बलीयसीं अत्रिर्मुनिराह । कृष्णपक्षेऽपि न केवलं तारा बलीयसी किंतु तारकापतिबले सति । अतः कृष्णपक्षेऽपि चंद्रबलालाभे सति ताराबलं न प्रमाणमिति मुनेराशयः ॥ ८ ॥

प्रोपिते विकलवर्ष्मणि प्रिये तोलिलिः  
स्त्रियमियेप कार्यिणीम् ॥ अस्तु किं तु  
न पतिप्रतीपतां सान्यथा घटयितुं  
पटीयसी ॥ ९ ॥

अथ मतांतरं दूषयितुमुपन्यस्यति । विकलं वर्ष्म शरीरं यस्यासौ विकलवर्ष्मा 'शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः । तस्मिन् विकलशरीरे प्रोपिते प्रवासं प्राप्ते वा प्रिये भर्तारि सति तोलिलिर्मुनिः स्त्रियं कार्यिणीं । इयेप ऐच्छत् कार्यं विद्यते यस्याः सा कार्यिणी कार्यकर्त्री 'अत इ-

निठनौ'इति मत्वर्थे इतिः । कृत्प्रत्ययात्तस्य निषेधेपि  
 कचिद्विधानात् । कृष्णपक्षे चंद्रस्य क्षीणशरीरत्वात्  
 वनस्पत्यादिषु प्रोपितत्वाच्च तत्पत्न्यास्ताराया एव व-  
 लं मुख्यमितिभावः । एतदभ्युपेत्य दूषयति । अस्तु  
 किंत्विति । तारकार्यिणी अस्तु तर्हि किंतु सा तारा  
 अन्यथा प्रकारांतरेण पतिप्रतीपतां भर्तुरभिप्रेताद्वै  
 परीत्यं घटयितुं पटीयसी न समर्था । अतिशयेन  
 पटुः पटीयसी सा स्वयं कर्त्री भवतु परंतु भर्तृप्रति-  
 कूलकार्ये न क्षमेत्यर्थः । अतः कृष्णपक्षे चंद्रबलाभावे  
 तारावले न ग्राह्यमिति सिद्धम् ॥ ९ ॥

क्रौर्यमेति बहुले सं केवलं नैव नश्य-  
 तितममां वसन् ॥ नास्ति चैप य-  
 दितत्र तत्कथं तत्कृताजनिषु रिष्ट-  
 रौद्रता ॥ १० ॥

अथ कृष्णपक्षे नष्टश्चंद्र इत्युच्यते तद्विषयमाह ।  
 स चंद्रमाः बहुले कृष्णपक्षे केवलं क्रौर्यमेति अमां  
 वसन् सन्नेव नश्यतितमाम्।क्रूरस्य भावः क्रौर्यम्। अ-  
 तिशयेन नश्यतितमां आख्यातमद् आम् चातदंत-  
 मव्ययम् । कृष्णपक्षे चंद्रः क्रूरत्वमेव प्राप्नोति क्षी-  
 णत्वात् दश तु वर्तमानश्चंद्रो नातितरां नश्याति किंतु  
 अदृग्गोचरे एव अतो नष्ट इत्युच्यते । यद्वा अमा-

वसन्निति पाठः । तत्र अमेत्यव्ययं सहाय्ये 'अमा साकं  
समं सहेत्यभिधानात् । सूर्येण सह वसन्नित्यर्थः । एष  
चंद्रः तत्र अमायां अमा समीपे च यदि नास्ति अति-  
तरां नष्टो भवति तदा जनिषु जन्मकालेषु तत्कृता  
तेन चंद्रेण कृतारिष्टरौद्रता कथं स्यात् । रिष्टस्य रौ-  
द्रता उग्रत्वं रिष्टस्य अतिशयता यदि तत्र चंद्रस्य  
सर्वथा अभावस्तदा तज्जनितमत्युग्रमरिष्टं कथं स्यात् ।  
अतोऽमायां नैव नश्यतीति किंतु प्रकाशहीनस्ति-  
ष्टतीति ग्रहगणिते प्रत्यक्षमप्यस्ति यदि स नष्टो भव-  
ति तदा तत्कृतं सूर्यग्रहणं कथं स्यादि-  
त्यादि ॥ १० ॥

पार्श्वगे निजपतौ कुटुंबिनी दुर्बले-  
ऽपि तदभीष्टकार्यकृत् ॥ तारका-  
ऽपि शशिनोऽनुकूलता संभवे भवति  
पक्षपातिनि ॥ ११ ॥

अथ सिद्धांतमाह । दुर्बलेऽपि निजपतौ स्वभर्तरि  
पार्श्वगे समीपवर्तिनि सति कुटुंबिनी कुटुंबनिर्वाहका  
तत्पत्नी तदभीष्टकार्यकृत्स्यात् । तस्य भर्तुर्यदभीष्टं  
कार्यं तदेव करोति न तु तत्प्रतिकूलम् एवं तारकापि  
शशिनश्चंद्रस्यानुकूलतासंभवेऽनुकूलत्वालाभे सति  
पक्षपातिनि अनुकूलत्वं विलोक्यमित्यर्थः । अतः

कृष्णपक्षेपिचंद्रवलसद्भावे तारावलं ग्राह्यमिति सिद्धम् ।  
तथा चाहुः । चंद्रस्य सर्वदा बलमसिते तारावलं ग्रा-  
ह्यमिति ॥ ११ ॥

इति विवाहवृंदावनेचंद्रवलाऽध्यायः  
पष्ठः ॥ ६ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरा-  
त्मजगणेशविरचितायां विवाहवृंदावनटीकायां विवा-  
हदीपिकायां चंद्रवलाध्यायः पष्ठः ॥ ६ ॥

अथ राहुसत्ताऽध्यायः ॥

यद्वराहमिहिरोनराहुरित्याहतांडवि  
तवाहुरुच्चकैः ॥ संहितास्मृतिसहा  
यिनीवहत्यत्रतत्पथविमाथिनीश्रुतिः १ ॥

अथ केचिद्ब्रह्मत्वे राहोर्न मन्यन्ते तदर्थं स्वकोश-  
लं दर्शयन् राहुसत्ताध्यायं वदति । तत्रादौ वराहोक्त-  
मागमप्रामाण्येन दूषयति । एतदाश्च त्रयोदश रथो-  
द्धतवृत्तानि । यद्वराहमिहिरो न राहुरित्याह । राहुर्ना-  
स्तीति ब्रूते । कथंभूतः उच्चकैस्तांडवितवाहुः । उच्चैरेवो-  
च्चकैः । 'अव्ययसर्वनामामकचप्राक्टेः' इत्यकच्चातांड-  
वं नृत्यविशेषः तांडवं जातं ययोस्तौ तांडवितौ  
तौ वाहू यस्यासौ तथा उच्चैर्नर्तितवाहुः सोपहासमिदं

विशेषणम् । अत्रास्मिन्विषये तत्पथविमाथिनीसंहिता स्मृतिसहायिनी श्रुतिर्वहति तस्य पंथास्तत्पथः 'ऋक्पूरुषः पथामानक्षे' इत्यप्रत्ययः । तं विमश्राति तथा तस्य वराहस्य यो मार्गस्तस्य भंगकर्त्री संहिताश्च स्मृतयश्च ताः सहायाः संति अस्याः सा तथा संहिता स्मृतिसंहिता श्रुतिर्वहति प्रसिद्धास्तीति यावत् । राहुर्नास्तीति वराहेण यदुक्तं तत्संहितास्मृतिश्रुतिभिरागमैर्विरुद्धमिति भावः । तद्यथा । वराहेण वृक्षस्य स्वच्छायेत्यादिना एवमुपरागकारणमुक्तमिदं दिव्यदृग्भिराचार्यैः राहुरकारणमस्मिन्नित्युक्तः । शास्त्रसद्भावादिति योऽसावसुरो राहुरित्यादिना च ग्रहणेराहुर्न कारणमिति प्रतिपादितम् । तद्विरुद्धाः संहिता 'जिह्वावलेढिपरितस्तिमिरतुदोपमंडलं यदि सलेहम्' इति । 'अशनिभयसंप्रदायी पाटलिकुसुमोपमोराहुः' इत्यादयः । स्मृतयश्च "सर्वे भूमिसमं दानं सर्वे ब्रह्मसमा द्विजाः । सर्वे गंगासमं तोयं राहुग्रस्ते निशाकरे " इति 'सर्वेषामेववर्णानां सूतकं राहुदर्शने' इत्यादयः । श्रुतयश्च । तत्रमाध्यंदिनीश्रुतिः 'स्वर्भानुर्हतो आसुरिः सूर्ये तमसा विव्याध' इति । अथर्वश्रुतौ हंसोपनिषदि च 'सोहं वनमिति वनमिति किलिकिलिलक्ष्यराहोः शिरमाच्छादयति । भास्त्रिं पाप्मा वै छाया रजनीरूपा पाप्मानं करो दुराधर्पयति घृणीविरश्मि विरेचयति पृथ्वीमाच्छा-

दयति दीप्तिमाच्छादयति द्यूतिमाच्छादयति' इत्यादयः  
एतत्स्वकौशलदर्शनाय ग्रंथकृतः पांडित्यमात्रम् । यतो  
राहुर्नास्तीति वराहो न ब्रूते किंतु ग्रहणेसो नकारण-  
मिति न च्छादक इत्यर्थः । अस्य स्मृत्यादिविरोधोपि  
तेनैव परिहृतः । योसावसुरो राहुस्तस्य वरो ब्रह्मणापुरा-  
ज्ञप्तः आप्यायनमुपरागेदत्तदुतांशेन तेन भविता त-  
स्मिन्काले सान्निध्यमस्य तेनोपचर्यते राहोरित्यादिना च ।  
अथ वराहोक्तिः सम्यगेव ॥ १ ॥

नैर्ऋतीं दिगियमस्य दिक्पतेर्ध्यानं  
दानवलिभिः फलाप्तये ॥ वेश्म चा-  
स्य शशभृद्विमंडलक्रांतिमंडलमिथ-  
श्चतुष्पथम् ॥ २ ॥

अथ राहोरस्तित्वे प्रमाणांतराऽप्याह । अस्य राहोर्दिक्पते  
दिशाधिपतेरियं प्रसिद्धनैर्ऋतीदिगस्तिप्राच्यादीशा  
रविसितेत्यादिना राहोर्नैर्ऋतीदिक्प्रसिद्धा । किंच अयं  
ध्यानदानवलिभिः फलाप्तये अभीष्टफलसिद्धये भवति ।  
तत्र ध्यानं ब्रह्मयामलादौ "करालवदनः सङ्गचर्ममाली  
वरप्रदः" इत्यादि । दानं गोमेदादिवलयः । पूजा कृष्णपु-  
ष्पोपहाराद्यैस्तेः फलाप्तये भवति । एभिः प्रमाणै  
राहुरस्तीति भावः । ननु यथान्येषां ग्रहाणां क्रांति-  
वृत्ते मेपादिग्रहेषु भ्रमणमस्ति तद्वदस्य नास्तीति

चेत्तत्राह । वेङ्गम चेति । अस्य राहोः शशभृद्विमंडलक्रांतिमंडलमिथश्चतुष्पथं वेङ्गम चास्ति चत्वारः पन्थानः समाहृता इति चतुष्पथम् । द्विगोः क्लीबत्वं पूर्ववदप्रत्ययः । विमंडलं विक्षेपमंडलं नामैकदेशेन नामग्रहणम् । शशभृतः विमंडलं च क्रांतिमंडलं च तयोर्मिथः परस्परं चतुष्पथं शशभृद्विमंडलक्रांतिमंडलमिथश्चतुष्पथं चंद्रस्य शरवृत्तक्रांतवृत्तयोर्यः संपातश्चतुष्पथरूपस्तदेवास्य स्थानमित्यर्थः । तच्चलनेन अस्यापि चलनं सिद्धं तदेव चंद्रस्य शरपातस्थानं ग्रहगणिते प्रसिद्धम् ॥ २ ॥

सौंधकारचरतां वहन्महीच्छायया  
विशति सोममंडलम् ॥ दीपितापरद-  
लेंदुमंडलच्छायया सह च सूर्यमं-  
डलम् ॥ ३ ॥

ननु 'दिग्देशकालावरणादिभेदान्न च्छादको राहुरिति ब्रुवंति' इति ग्रहगणिते प्रत्यक्षं तद्विरुद्धाः स्मृत्यादयः संतस्तत्समाधानमाह । स राहुरंधकारचरतां वहन्सन्महीच्छायया सह सोममंडलं विशति अंधकारे चरतीति अंधकारचरस्तस्य भावस्तथा भूच्छायां किलांधकाररूपिणी सोप्यंधकारचरः अतस्तत्साहित्येन चंद्रमंडलं विशति आच्छादयतीत्यर्थः । दीपितेति । अंधकारचरतां वहन्संदीपितापरदलेंदुमंडलच्छायया



सह सूर्यमंडलं च विशाति । दीपितमपरदलमुपरि-  
स्थितदलं यस्य तत् दीपितापरदलं तच्च तदिदुमंड-  
लं च तस्य च्छाया तथा । दर्शे किल चंद्रस्योर्ध्वदलं  
प्रकाशमंतोर्धकाररूपस्य चंद्रमंडलाधोभागस्य च्छा-  
यया सह सौम्यंधकाररूपः सूर्यमंडलं प्रविश्य छादय-  
तीति । अनेन गोलगणितस्य स्मृत्यादीनां च विरो-  
धः परिहृतः । तथा चोक्तं गोलाध्याये “राहुः कुभामंड-  
लगः शशांकं शशांकगच्छादयतीनविंशम्” इति ॥ ३ ॥

वृत्तयोः पतनमेव पात इत्याहुरत्र किल  
राहुरीक्षते ॥ आपतंतममृतद्युतिं सु-  
धास्नानदानहवनांशलालसः ॥ ४ ॥

ननु शरवृत्तक्रांतिवृत्तयोः संपाते कथं राहु-  
रस्तीति तत्राह । पतनं पातः वृत्तयोः शरवृत्तक्रांति-  
वृत्तयोः पतनमेव पात इत्याहुर्गोलविदः । यतो वृत्त-  
योः संपातस्ततः पात इत्युच्यते । अत्र पाते स्थितो  
राहुः आपतंतमागच्छंतममृतद्युतिं चंद्रमसमीक्षते  
ग्रहीतुमवलोकते । किलेत्यागमे । तमेवागमं विशेष-  
णद्वारेणाह। सुधेति । सुधा अमृतं सुधा च स्नानदानहवनं  
चतेपामंशो विभागस्तत्र लालसस्तत्परः । अत्र संपा-  
ते स्थितो राहुरमृतांशोर्ग्रहणानिमित्तस्नानदानमंत्राश्च  
ब्रह्मवरप्रदानान्मम भविष्यंतीति चितयन्नमृतद्युतिं

ग्रहीतुमीक्षत इति भावः । चंद्रो हि अमृतद्युतिः राहु-  
श्च सुधालालसः अतस्तं ग्रहीतुमीक्षत इति युक्तम् ।  
रविग्रहेऽपि चंद्रच्छायासांनिध्यमस्त्येव । ब्रह्मवरप्रदा-  
नादिकं ब्रह्मपुराणादौ प्रसिद्धम् । अत आगमात्तत्र  
संपाते राहुरस्तीति भावः । एतदेवोक्तं बराहेण  
“योसावसुरी राहुस्तत्र वरो ब्रह्मणा पुरा ज्ञातः ॥ आ-  
प्यायनमुपरागे दत्तहुतांशेन तेन भविता ” इ-  
त्यादि ॥ ४ ॥

सैहिकेयगृहतामुपेयुपोर्दूरगो वियति  
वृत्तपातयोः ॥ ग्रासमेति न रविर्न चंद्रमा  
गृह्यते स खलु पार्श्वगस्तयोः ॥ ५ ॥

एवं चेत्तर्हि प्रतिपर्वणि ग्रहणं कथं न स्यात्तत्राह ।  
सिंहिकाया अपत्यं सैहिकेयो राहुस्तस्य गृहं तस्य  
भावः तां सैहिकेयगृहतामुपेयुपोः उपेयतुरित्युपेयवांसौ  
तयोरुपेयुपोः । इण् गतौ ‘उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च’  
इति क संपातो निपातः वृत्तपातयोः शरवृत्तक्रांतिवृत्त-  
संपातयोर्दूरगो रविर्वियति आकाशे स्थितः ग्रासं नैति  
न प्राप्नोति । न च चंद्रमा ग्रासं मेति । तयोर्वृत्तपातयोः  
पार्श्वगः स मीपवर्ती स रविश्च खलु निश्चितं गृह्यते  
राहुणेति शेषः । यद्वा कर्मकर्तारिरूपम् । एतदुक्तं भवति ।  
शरवृत्तक्रांतिवृत्तयोः द्वौ किल संपातौ एकश्चंद्रपात-  
स्थानं द्वितीयस्तत्सप्तमं चेति । ते द्वे अपि राहुस्था-

एकं राहोरपरं केतोश्चेति । तयोर्दूरगो रविश्चन्द्रो  
वा ग्रासं नैति शरबाहुल्यात् । शरोहि राहुचंद्राविवमध्य-  
योरंतरमतो मानैक्यार्धादूने शरे सत्येव ग्रहणं नत्व-  
धिके एतद्वहगणिते प्रसिद्धम् ॥५॥

राशिवृत्तवसतिः स सूर्यवद्भावगोचर-  
फलैर्न हीयते ॥ रिष्टभंगजननैकना-  
यको हौरिकैरपि स कैर्न कीर्त्यते ॥६॥

एवं गणितेन राहुसद्भावं प्रतिपाद्य अधुना सं-  
हिताजातकौभ्यामप्याह । स राहुः सूर्यवद्भावगोचर-  
फलैर्न हीयते यतोऽसौ राशिवृत्तवसतिः । राशि-  
वृत्ते क्रांतिवृत्ते वसतिः स्थानं यस्य स तथा । सूर्यो हि  
क्रांतिवृत्तेऽस्ति तत्र राहुरपि चंद्रपातत्वात् । अतः  
संहितासु सूर्यस्य यादृशानि भावफलानि तादृ-  
शानि राहोरप्युक्तानि अतो राहोर्भावगोचरफलसद्भा-  
वाद्वाहुरस्तीति भावः । एवं जातकेऽपि रिष्टभंगेति । स  
राहूरिष्टभंगजननैकनायको भंगश्च जननं च भंगजनने  
रिष्टस्य भंगजनने रिष्टभंगजनने तयोरेकश्चासौ  
नायकश्च स तथा । होरां विदंति ते हौरिकाः तैः कैः  
कीर्तितः । अपि तु स राहुः सर्वजातकविद्भिः रिष्टभंग-  
स्य रिष्टजननस्य च एक एव कर्त्ता कीर्तित एव । त-  
द्यथा राहुश्चतुष्टयस्थो मरणाय निरीक्षितो भवति पापै-  
रित्यादीनां रिष्टजननानाम् अजवृषभकर्किलग्ने रक्षति ।

राहुः समस्तपीडाभ्यः इत्यादीनां च कर्त्ता ग्रहांतरान-  
पेक्ष एक एव कीर्तितः अतोऽसावपि जातकेनापि  
स्वीकृत इति भावः ॥ ६ ॥

एष शेषखगपाततुल्यतां नैति चंद्र-  
विपर्वगर्वितः ॥ जातकादिषु यथेदु-  
मंदिरार्त्तिक तथा न फलमन्यराशि-  
तः ॥ ७ ॥

नन्वसौ किल चंद्रपातस्तस्य चेद्गृहत्वं तर्हि भौमा-  
दिपातानामपि कथं न गृहत्वमिति अत्राह । एष चंद्र-  
पातः शेषखगानां भौमादीनां ये पातास्तुल्यतां  
नैति न प्राप्नोति । यतोयं चंद्रविपर्वणा गर्वितः चंद्र-  
रविग्रहणकर्तृत्वेन गर्वं प्राप्तः यतस्तस्य संनिहितावेव  
चंद्राकौ ग्रासं प्राप्नुतः नत्त्वितरेषाम् अतोऽसावन्यपात-  
साम्यं न प्राप्नोतीत्यर्थः । किंच जातकादिषु जातकसं-  
हितास्वरशास्त्रयामलादिषु यथा इंदुमंदिराच्चंद्रराशेः  
फलं तथान्येषां भौमादीनां राशितः फलं नास्ति अतो  
यथा सर्वत्र फलानि चंद्रराशेस्तथा तत्पातराशेरपि  
अतश्चासौ शेषपातसाम्यं नैति ॥ ७ ॥

वृत्तपातमपरं स्वपाततो राहुरेति  
समयात्स्वयंभुवः ॥ मंदिरं तदपि

तस्य तद्गतस्त्यज्यते जंगति दिव्य-  
रिष्टवत् ॥ ८ ॥

एवं प्रथमे संपाते राहुस्थितिमुक्त्वा द्वितीयेऽपि त-  
त्स्थितिमाह । चंद्रस्य शरवृत्तक्रांतिवृत्तयोः संपात एव  
चंद्रपातस्तद्राहोः स्थानमिति किलोक्तं तस्मात्पट्टभां-  
तरे द्वितीयः संपातस्तमपरं वृत्तपातं राहुरेति गच्छति  
तत्राप्यस्ति तल्लोके केतुरुच्यते तदापि राहोः स्थानं  
कस्मात् स्वयंभुवो ब्रह्मणः समयात् वरस्य संकेतात्  
'समयः शपथाचारकालसिद्धांतसंविदः' इत्यमरः । संपा-  
तद्वयस्यापि समीपवर्तिनोश्चंद्रार्कयोर्ग्रहणसंभवः ।  
अतो ब्रह्मवरप्रदानात् संपातद्वयेऽपि राहोरवस्थितिरा-  
गमसिद्धा तद्गतस्तस्मिन्द्वितीयसंपाते गतो राहुर्ज-  
गति इह लोके दिव्यरिष्टवत्त्यज्यते । दिवि भवं दिव्यं  
तच्च तद्रिष्टं च तद्वत् । दिव्यान्यरिष्टानि ग्रहनक्षत्र-  
जानि तेषु मुख्यं दिव्यं केतुः । अतोऽत्र  
दिव्यरिष्टशब्देन केतुर्गृह्यते । द्वितीयसंपा-  
ते गतो राहुरेव लोके केतुनाम्ना त्यज्यत इति भावः ।  
यतो ब्रह्मपुराणादिषु विष्णुना सुदर्शनच्छिन्नं राहोः  
शिरो राहुरपरं केतुरित्युक्तम् । अत एकमेव शरीरं  
द्विधाभूतं राहुकेतुसंज्ञमिति ॥ ८ ॥

पातवद्गतिवशेन शीतगोरुच्चमस्तु

फलदं किलेति चेत् ॥ अस्तु किं तु  
न हि तन्निवेशितं राहुवद्रहपदे विरिं-  
चिना ॥ ९ ॥

ननु एष शेषखगेत्यादिना यदुक्तं सर्वग्रहेषु मध्ये फल-  
दातृत्वे चंद्रस्य मुख्यत्वात्तस्यापि फलदातृत्वं तर्हि  
तदुच्चस्यापि तत्कथं न भवेदित्यनूद्य परिहरति ।  
शीतगोः उच्चफलदं किलास्तु । किंवत् पातवत् । केन  
हेतुना गतिवशेन । यथा प्रागुक्तं चंद्रस्य फलदातृ-  
त्वमुख्यत्वात्तत्पातस्य फलदातृत्वं गतिसद्भावात् ।  
तद्वदुच्चस्यापि गतिसद्भावात्फलदातृत्वं किलास्त्व-  
ति भावः । इति चेदस्तुतर्हि किंतु हि यस्मात्कारणा-  
त्तदुच्चं विरिंचिना ब्रह्मणा ग्रहपदे ग्रहपंक्तौ न निवे-  
शितं न स्थापितम् । उच्चस्य ब्रह्मवराभावान्न फलदातृ-  
त्वमिति भावः ॥ ९ ॥

किंच गोलगणितानि यन्महीमध्य-  
केंद्रमधिकृत्य तेनिरे ॥ तद्गतः शशि-  
नमीक्षते स्फुटं व्युच्चहेतुमपि पातव-  
र्त्तमनि ॥ १० ॥

एवं चंद्रोच्चस्य फलदातृत्वमागमाभावान्निरस्य  
गोलयुक्त्यापि दूषयति ॥ किंच युक्त्यंतरेणापि

दूषणमस्ति । यत् गोलगणितादीनि कक्षावृत्तादीनि  
 महीमध्यकेन्द्रं महीमध्ये वृत्तस्य मध्यं किल केंद्रमुक्त  
 मितिसिद्धांतोक्तेः तत् अधिकृत्य प्राथम्येन धृत्वा  
 तोनिरे विस्तृतानि कर्मकर्तारं रूपम् । यतः सर्वेषां  
 कक्षावृत्तनाडिकावृत्तादीनां मध्यं भूगर्भ एव तद्गतस्त-  
 स्मिन्भूगर्भे स्थितो नरः पातवर्त्मनि पातमार्गे स्थितं  
 स्फुटं शशिनं व्युच्चहेतुमीक्षते पश्यति । अपिरेवार्थे ।  
 विगतः उच्चहेतुर्यस्यासौ तथा । उच्चस्य हेतुं विनापी-  
 त्यर्थः । एतदुक्तं भवति । फलभंग्या कक्षावृत्तस्य  
 भूगर्भो मध्यं प्रतिवृत्तस्य मध्यं भूगर्भादंत्यफलज्यां-  
 तरे तत्र प्रतिवृत्ते मध्यमचंद्रस्तदुच्चं च तन्मध्ये चं-  
 द्रकेंद्रं कक्षावृत्ते तु स्फुटचंद्रः तत्रैव तत्पातश्च । उक्तं  
 च 'चंद्रस्य कक्षावलये हि पातः' इति । अतो भूग-  
 र्भस्थो द्रष्टा कक्षावृत्ते स्फुटचंद्रं पश्यति तत्रैव तत्पा-  
 तश्च अतो नयोरेकवृत्तचारित्वाच्चंद्रवशेन तत्पात-  
 स्यापि फलदातृत्वं न तूच्चस्य । अत उक्तं व्युच्चहे-  
 तुमिति । एतद्व्रंथकृतोक्तं जनानां व्यामोहनमात्रं  
 वास्तवं तु नैतत् । तथा हि यद्यपि प्रतिवृत्तस्य नीचो-  
 च्वृत्तस्य वा यदुच्चस्थानं तदेवोच्चमित्यस्ति तथा-  
 व्युच्चहेतुं विना कक्षावृत्ते स्फुटचंद्रदर्शनं कथं स्यात् ।  
 स्फुटचंद्रस्य कारणमुच्चं भवत्येव । उक्तं च सूर्यसिद्धां-  
 ते । 'अदृश्यरूपाः कालस्य मूर्तयो भगणाश्रिताः॥

शीघ्रमंदोनपाताच्च ग्रहाणां गतिहेतवः ' इत्यादि ।  
 अतो व्युच्चहेतुमिति यदुक्तं तत्र चतुरस्रमिति प्रतिभा-  
 त्ति । अत एव युक्त्यन्तरं वक्ष्यति । अर्कमर्कजेत्यादि ।  
 अथ यदुक्तं गतिवशेन तद्रढयन् अन्यपातानां फल-  
 दातृत्वासंभवं प्रतिपादयन् चंद्रस्य फलगौरवं  
 द्रढयति ॥ १० ॥

अत्र यं न विकलादलार्धमप्यह्नि यां  
 ति फलमस्तु किं ततः ॥ तावदेव फल-  
 गौरवं गतिर्यावतीत्यधिफलः कला-  
 निधिः ॥ ११ ॥

अत्र ये भौमादीनां पाताः विकलादलार्धं विक-  
 लाया दलं तदर्धमपि अह्नि दिवसे न यांति न गच्छन्ति  
 तेभ्यः फलं किमस्तु अपि तु नास्तु । न हि ते वर्षशते-  
 नापि कलामात्रं चलन्ति । अतो यावती गतिस्ताव-  
 देव फलगौरवम् । यथा यथा गतिरधिका तथा तथा फल-  
 गौरवम् । अल्पकालेनैव फलवैचित्र्यात् इति हेतोः क-  
 लानिधिश्चंद्रमाः सर्वग्रहेभ्योऽधिफलः अधि अधिकं  
 फलं यस्यासावधिफलः अन्यग्रहाणां गतियोगोपि  
 चंद्रगतिसमो न स्यादतोसावधिकफल इति भावः ।  
 तथा चोक्तम् । 'एकतस्तु ग्रहाः सर्वे एकतः शशलांछ-  
 नः । ततोधिकतरश्चंद्रस्तस्माच्चंद्रं परीक्षयेत्' इति ११ ॥



किंच गोलगणितेषु जिष्णुजः सोम-  
रोमकमयादयोपि च ॥ पर्ययेण ननु  
राहुपातयोर्नामनी विदधुरेव तां-  
त्रिकाः ॥ १२ ॥

अत्र यः असंपातः स एव राहुरित्यर्थे प्रमाणांतर-  
फलमाह। किंच प्रमाणांतरमप्यस्ति जिष्णुजो ब्रह्मगुप्तः  
सोमः प्रसिद्धः रोमको मुनिः मयो मयासुरः आदिश-  
ब्देन पितामहवसिष्ठादीनां ग्रहणम्। ननु एते तांत्रिकाः  
शास्त्रप्रणेतारः राहुपातयोर्नामनी पर्ययेणैव विदधुः पा-  
तपर्यये राहुशब्दं प्रयुजते घटकलशब्दत् । तथाचोक्तं  
'कुमुदिनीपतिपातो राहुमाहुरिह केपि तमेव' इति। अतो  
यः पातः स एव राहुरिति सोमरोमकादीनामुक्तेर्वृत्त-  
संपात एव राहुरित्यर्थः ॥ १२ ॥

अर्कमर्कजकुजार्यतुंगतां किं नयन्ति  
यदि तत्पृथग्भवेत् ॥ कल्पना तदि-  
यमुच्चमुच्चरन्कोपि रोपितफलं न च  
श्रुतः ॥ १३ ॥

ननु पात एव राहुर्भवतु उच्चस्य फलदातृत्वाभावे  
किमायातं तत्र व्युच्चहेतुमिति कारणमुपन्यस्तं तदपि  
सूक्ष्मदृष्ट्या विचार्यमाणे संदिग्धमित्याशंकां मनसि  
धृत्वा तन्निरासे युक्त्यन्तरमाह तदुच्चं यदि पृथग्भ-

वेत्फलदातृत्वे स्वतंत्रं भवेत्तर्हि सोमरोमकादयः  
 अर्कजकुजार्येतुंगतामर्कं किं नयन्ति आर्यो गुरुः  
 अर्कजकुजार्याणां तुंगं तस्य भावस्तथा शनिभौ  
 मबृहस्पतीनां शीघ्रोच्चं सूर्य एवेति कथं वदं  
 तीति यद्येषां सूर्य एव शीघ्रोच्चं तदा तस्य फलदा-  
 तृत्वे पृथक्त्वं न स्यात् तत्तस्मात्कारणादियं कल्पना  
 उच्चं हि कल्पनामात्रं मंदफलानि साधनायेति । उक्तं च  
 गोलाध्याये “ यः स्यात्प्रदेशः प्रतिमंडलस्य दूरे  
 भुवस्तस्य कृतोच्चसंज्ञा । सोऽपि प्रदेशश्चलतीति  
 तस्मात्प्रकल्पिता तुंगगतिर्गतिज्ञैः ” इति । अत उच्च-  
 स्य कल्पनामात्रत्वान्न फलदातृत्वं तर्हि पातोऽपि श-  
 रसाधनाय कल्पनामात्रं कथं तस्यापि फलदातृत्वं  
 भवेदित्याशंकायामाह । उच्चमुच्चरन्निति । उच्चं रोपित-  
 फलमुच्चरन्कथयन् कोऽपि न श्रुतः रोपितं फलं यस्मि-  
 न् तत्तथा उच्चस्य फलं कुत्रापि न श्रुतं तस्य फल-  
 श्रवणाभावात्कल्पनामात्रत्वमिति भावः । अतः पात-  
 स्य ग्रहत्वं युक्तम् उच्चस्य फलदातृत्वाभावे ग्रंथकृता  
 किमर्थमेतावत्प्रपञ्चितम् पर्यवसानंतु आगम एव । अतः  
 प्रथमत एव तत्रागमाभावः । कारणं कथं न  
 वक्तव्यमिति ॥ १३ ॥

राहोर्नाहोरात्रवर्षाधिपत्यं सत्यं सर्वं  
 व्योमगानामधीशौ ॥ यस्य च्छाया पु-

पुष्पवंतौ पिनाष्टि क्वास्ते तस्य स्वा-  
मिताया विनाष्टिः ॥ १४ ॥

ननु दिनादेराधिपत्यं तस्य पातस्य कथं नास्ती-  
ति तत्राह । शालिनीवृत्तम् । अहोराहोरात्रवर्षा-  
धिपत्यं नास्ति अहोरात्रं वारः वर्षवत्सरः तौ मा-  
सहोरादीनामुपलक्षणं तेषां स्वामित्वं राहोर्नास्तीति  
सत्यं सत्यमेवेति व्यंग्योक्तिः तथापि सर्वव्योमगानां  
अधीशौ पुष्पवंतौ चंद्राकौ यस्य राहोः छाया पिनाष्टि  
चूर्णयति 'पिप् पेपणे' तस्य राहोः स्वामिताया  
विनाष्टिः विनाशः क्वास्ते न कुत्रापीति 'एकयोक्त्या  
पुष्पवंतौ दिवाकरनिशाकरौ' इत्यमरः । ग्रहाधीशौ  
चंद्राकौ यस्य छायामात्रं विह्वलयति तस्य स्वामि-  
त्वं नास्तीति वक्तुं नशक्यते अतः पारंपर्येण दिनव-  
र्षादीनामत्याधिपत्यं तस्यास्त्येवेति भावः ॥ १४ ॥

प्रतिदिनं खचरः प्रचरन् फलं किम-  
पि यच्छति चारफलो हि सः ॥ ग्रह-  
णक्रक्षग एव स चेन्न किं चलति किं-  
चिदुपप्लव एव तत् ॥ १५ ॥

अथ गतिवशात्फलमिति प्रतिपादयन् राहोर्गतिस-  
द्भावे प्रमाणमाह । द्रुतविलंबितम् । खचरः प्रतिदिनं  
प्रचरन् सन् किमपि फलं यच्छति हि यस्मात्कारणा-

त्स खचरः चारफलः चारेण गत्या फलं यस्यासौ तथा  
 यस्मात्खचरः चारफल इत्युच्यते। तस्माद्यथा यथा यो-  
 ग्रहः किंचलति तथा फलं यच्छतीत्यर्थः। सराहुः ग्रहण-  
 ऋक्षग एवास्ति ग्रहणे नक्षत्रे स्थित एवास्ति “ऋत्य-  
 क ” इति प्रकृतिकत्वं। विपक्षे प्रत्यक्षवाधमाह। सचेदि-  
 ति। स राहुः चेद्ग्रहणर्क्षगो नास्ति तर्हि उपप्लवः किंचि-  
 त् किंचलति उपप्लवो ग्रहणम्। एतदुक्तं भवति। ग्रहणे  
 राहुसान्निध्यमस्त्येवेति प्राक् प्रतिपादितं ग्रहणं हि  
 किंचित्प्रतिमासं सार्धैकभागप्रमाणेति पर्णमासैर्नवभागैः  
 पृष्ठतश्चलत्येव तत् एकं ग्रहणं यस्मिन्नक्षत्रे दृष्टं त-  
 त्परम् तत्पृष्ठनक्षत्रे तत्परमपि तत्पृष्ठनक्षत्रे इति  
 प्रत्यक्षं दृश्यते अतो ग्रहणचलनं सैव राहुगतिः ॥  
 ग्रहणेवश्यं तत्सान्निध्यात् । अतश्च राहोर्गतिसद्भावात्  
 ग्रहत्वं फलदातृत्वं च सिद्धम् ॥ १५ ॥

उदयमेति यदा दिवि तत्परं चरति  
 केतुरपि प्रतिवासरम् ॥ भवति न ग्रह  
 एवगतिं विना जगति कर्मविपाकवदा  
 वदः ॥ १६ ॥

एवं राहोर्ग्रहत्वादिकं संस्थाप्यानयैव युक्त्या के-  
 तोरपि ग्रहत्वं संस्थापयति । द्रुतविलंबितम् । यदा दि-  
 वि आकाशे तत्परं तस्य राहोः परं पश्चिमकायः उदय-

मेति तदा केतुरपि प्रतिवासरं चरतीति स्यात् । एतदु-  
क्तं भवति वृत्तपात्तमपरमित्यादिना राहोः पङ्कान्ते-  
रे यो द्वितीयः संपातस्तस्य ग्रहं सकेतुरिति प्रति-  
पादितं तत्सन्निधावपि यद्ग्रहणं तदापि प्राग्वच्चलति  
अतः केतोरपि गतिः सिद्धा गतिसिद्धौ सत्यां ग्रहत्वं  
फलदातृत्वं च साधयति भवतीति गतिविनी ग्रह एव  
न भवति । कथं भूतः जगति इहजने कर्मविपाकवदा-  
वदः कर्मणो विपाकस्तं वदतीति कर्मविपाकवदाव-  
दः । पचादित्वादित्त्वं । “वरिचलिपतिवदीनां वाद्वित्वमाचा  
भ्यासस्य” इति द्वित्वमभ्यासस्यात्वं च । यस्य हि गति-  
रस्ति स एव ग्रहो भवति अतोऽसौ पूर्वकर्मविपाकज-  
नितस्य शुभाशुभस्य सूचको भवेत् तस्मात् केतोर-  
पि ग्रहत्वं फलदातृत्वं च सिद्धम् ॥ १६ ॥

परिहरंत्युपरागपरागतं तम उपप्लव  
एव स किं ग्रहः ॥ इति मणित्थवचांसि  
विवृण्वता मतमतक्ष्यत भोजमहीभु-  
जा ॥ १७ ॥

ननु ग्रहणे तम एव प्रत्यक्षं दृश्यते स कथं ग्रहो  
भवेदिति परमताशंका भोजराजेन दूषितेत्याह । द्रुत-  
विलंबितम् । उपरागे ग्रहणे परागतं प्राप्तं तमः उपप्लवो  
रिष्टमेवेति परिहरंति त्यजंति स किं ग्रहः स ग्रह एव

न भवतीति । तथाहि चंद्रार्कयोर्ग्रहणे स्वाभाविकदीप्ति-  
 खरोधकं प्रत्यक्षं यत्तमो दृश्यते तदुत्पात एवाप्रकृते-  
 रन्यत्वमुत्पात इत्युक्तत्वात् । परिवेपादिवत् । अतस्त-  
 त्तम उत्पात एवेति परिहरन्ति आचार्या इति यन्मतं  
 तत् मणित्थवचांसि विवृण्वता मणित्थवाक्यानां वि-  
 वरणं कुर्वता भोजमहीभुजा भोजराजेन अतक्ष्यत अ-  
 च्छिद्यत । तक्षू तनूकरणे कर्मणि लङ् । एतन्मतं मणि-  
 त्थवाक्यविवरणे भोजराजेन निराकृतमित्यर्थः । तद्यथा  
 उत्पातो हि गणितागतान्नोपलभ्यते ग्रहणं हि सम्यगुप-  
 लभ्यते अतो नोत्पातः । किञ्च उत्पातो हि दोषविशेषे-  
 ण यत्र कचन दृश्यते चंद्रग्रहणं तु सर्वदेशे अतश्च नो  
 त्पात इति गणितागतप्रत्यक्षमागमश्च ब्रह्मणो वरप्रदा  
 नादि ग्रहचारे तत्फलकथनं च लोकेप्रसिद्धिश्च  
 'राहुकृतं ग्रहणं स्यादागोपालांगनादिसिद्धमिदम्' इति  
 ब्रह्मगुप्तः । अन्या अपि पुरस्तादुक्ता युक्तयश्च इत्यादि-  
 प्रमाणैस्तन्मतं भोजराजेन निराकृतमिति भावः ॥१७॥

अथाप्यसौ केवलवासनायां नाया-  
 ति सिद्धि तदपि प्रियं नः ॥ अवास-  
 नं किं न सुरद्युरात्रमर्कायनाभ्यां  
 भवतैव भेजे ॥ १८ ॥

नन्वागमप्रामाण्येन राहोः सिद्धिरस्ति परंतु दिग्देशका-  
 लावरणादिभेदगोलावासनायां सिद्धिर्नास्तीति तत्राह ॥

उपजातिका । अथापि यद्यपि असौ राहुः केवलाया-  
मेकस्यामेव गोलवासनायां सिद्धिं नायाति तदपि नो-  
ऽस्माकं प्रियं मास्तु गोलवासनया सिद्धिः तत्कथम्.  
अर्कायनाभ्यां सूर्यस्योत्तरदक्षिणायनाभ्यां सुराणां  
देवानां द्युरात्रमहोरात्रमवासनं वासनावाह्यं भवता  
त्वयैव किं न भेजे किं न स्वीकृतमपितु स्वीकृतमेव ।  
द्यु इत्यव्ययं दिनवाचकमिति क्षीरस्वाम्यादयः । एतदु-  
क्तं भवति । मेरुगतानां देवानां नाडिकामण्डलं क्षितिजं  
तस्मादुपरि स्थिताः क्रांतिवृत्तं मेघादयः पट् राशयो  
दृश्याः तुलादयः पट् अधःस्थिताः अदृश्याः अतो  
मेघादिपट्टादिस्थितेर्के देवानां दिनं तुलादिस्थिते  
रात्रिरिति द्युरात्रं गोलवासनासिद्धं 'शिशिरपूर्वमृतुत्रय-  
मुत्तरं ह्ययनमाहुरहश्च तदामरम्' इत्यादिना पुराणा-  
दिषु उत्तरायणं दिनं दक्षिणायनं रात्रिरित्यागमस्य  
विरोधभयादिदं वासनावाह्यमपि द्युरात्रं त्वयापि स्वी-  
कृतमतोऽस्माभिरप्येकमिदमवासनमागमभया तस्वी-  
कृतमिति भावः ॥ १८ ॥

सिद्धांतपक्षस्तु परं दिनार्धात्रिशानि-  
शार्धात्परतोदिनश्रीः ॥ एवं पुराणेग-  
णिते च साम्यमर्कायनाभ्यांसदस-  
त्फलेषु ॥ १९ ॥

अथानयोर्विरोधं परिहरति । उपजातिका । सिद्धांत-  
पक्षस्त्वयं सिद्धांतस्यायमाशय इति । दिनार्धात्परं  
निशा निशाद्धात्परतो दिनश्रीर्दिनलक्ष्मीर्दिनमेवेति  
यावत् । एवं सत्यकार्यनाम्भ्यां सकाशात्सदसत्फलेषु  
विषये पुराणे गणिते च साम्यं स्यात् ॥ एतदुक्तं  
भवति गणिते किल कर्कसंक्रमे दिनार्धे तत्परं रात्र्युन्मु-  
खत्वाद्रात्रिरित्युच्यते एवं मकरसंक्रमे निशार्धे तत्परं  
दिनोन्मुखत्वादिनमेवेति । तथाचसिद्धांते विरोधपरिहा-  
रः 'दिनं सुराणामयनं यदुत्तरं निशेतदत्सांहितकैः  
प्रकीर्तितम् ॥ दिनोन्मुखैर्केदिनमेव तन्मतं निशा तथा  
तत्फलकीर्तनाय तत्' इति ॥ १९ ॥

कर्कं गतेर्के हि सुरापराहः फलं  
पुरा रात्रिवदाहुरस्य ॥ नक्रं गते चा-  
पररात्रमेपामेतत्परं वासरवत्स्मरं-  
ति ॥ २० ॥

अथैतदेव स्पष्टयति । उपजातिका । व्याख्यातप्राय-  
मेतत् । हि यस्मात्कारणात्कर्कं गते अर्के सति सुराणां  
देवानामपराहः स्यात् । अन्हः अपरमपराहः दिनो-  
त्तरार्द्धम् अस्य फलं पुनः फलंतु रात्रिवदाहुः । नक्रं मक-  
रंगते अर्के सति एषां देवानामपररात्रं स्मरन्ति रात्रेः  
अपरमपररात्रः ॥ 'अहः सर्वैकदेशे'त्यच् ॥ "रात्रान्धाहाः



पुंसि"इति पुंस्त्वम्॥एतत्परमेतस्मात्परं वासरवत्स्म-  
रन्ति संहिताकारादयः ॥ २० ॥

अतश्च कैश्चिद्दशमीष्वपि प्राक्कापा-  
लिको वेधविधिः किलोक्तः॥मासोन्य  
एवं नियमव्रतादौ पित्र्ये निशार्धे स-  
ति पूर्णिमास्याम् ॥ २१ ॥

अस्य दृढीकरणार्थमेतद्वृष्टान्तमन्यत्राप्याह । उप  
जातिका । \* किलेत्यहंतर्के अतश्चहेतोः दशमीष्व-  
पि प्राक् पूर्वं कापालिको वेधविधिरुक्तः॥निशार्धादिना-  
र्थपर्यंतं प्राक्कपालं दिनार्थान्निशार्धपर्यंतं पश्चिमकपालं  
अद्वगणिते प्रसिद्धं तयोः कपालयोर्भवः कापालिकः॥अ-  
यंभावः 'दशमीशेषसंयुक्तो यदिस्यादरुणोदयः ॥  
वैष्णवैस्तुनकर्तव्यंतद्दिनेकादशव्रितम्॥'इत्यादिवाक्ये  
रुणोदये दशम्याविद्धैकादशी यथा वैष्णवैस्त्यज्यते  
तद्वत्कैश्चिन्निवादित्यसंप्रदायिभिरर्धरात्रे दशम्यावि-  
द्धैकादशी त्यज्यते अर्धरात्रादुपरि उत्तरादिनप्राते  
तद्वाक्यं च॥ 'अर्धरात्रेपि केषांचिद्दशमीवेधइष्यते' अ-  
तश्च धर्मशास्त्रे पित्र्याशौचावर्तवादिषु केचिदर्थरात्रा-  
दुपर्युत्तरादिनमिच्छन्ति अतश्च'विष्टिरंगारकश्चैव व्यती-  
पातश्च वेधृतिः ॥ प्रत्यरिर्जन्मनक्षत्रं मध्याह्नात्परतः  
शुभम्॥'इत्यादिवाक्यानामवकाशः अपि चमासोन्य

इति एवमनेनैव हेतुना पौर्णमास्यां पित्र्ये निशार्धे सति नियमव्रतादावन्यो मासः स्यात् पितृणांभिदं पित्र्यं "पितुर्यत्" नियमाः चातुर्मास्ये शाकदधित्यागादयः व्रतानि, कार्तिकव्रतादीनि तेषामारंभः पूर्वमासस्य पूर्णमासीमारभ्यैव यतस्तत्र पितृणां निशार्धे तथाहि चन्द्रस्योर्ध्वभागे वसंतः पितरः स्वमस्तकोपरि दर्शं सूर्यं पश्यान्ति अतस्तत्र दिनार्धम् एवं पूर्णमास्यां सूर्यस्य अधोर्धस्थितत्वादधरात्रः कृष्णपक्षार्द्धे सूर्योदयः शुक्लपक्षार्धेस्तमय इति पित्र्यमानस्य वासनया सिद्धान्ते प्रसिद्धम् ॥ २१ ॥

तदिति विद्यत एवम किं परै रुधिरविंदुवपुर्विलसन्ति ये ॥ त इह तामसकीलककेतवः स्वपितृराहुसमर्थनहेतवः ॥ २२ ॥

अथ राहुसद्भावे प्रमाणांतरमाहाद्रुतविलंबितमातत्तस्मादिति हेतोः स राहुर्विद्यत एव परैरन्यैर्हेतुभिः किमन्ये हेतवस्तिष्ठन्तु तमेव हेतुमाहारुधिरिति। रुधिरविंदुवपु र्यथा तथा ये तामसकीलककेतवो विलसन्ति ते स्वपितृराहुसमर्थनहेतवः स्युः । रुधिरस्य विंदवो यस्मिन्स्तद्रुधिरविंदु तच्च तद्वपुश्च तत्तथा वपुः शरीरं तामसकीलकाश्च ते केतवश्च ते तथा । स्वश्चासौ पिता च स्वपिता तस्य समर्थनं संस्थापनं तत्रहेतवस्ते तथा। ता-

मसकीलकाख्या ये केतवस्ते राहुसुता इत्युक्तत्वात्ते-  
पां केतूनां पिता राहुरस्तीत्यर्थः । तथाचोक्तं वराहसं-  
हितायाम् 'क्षतजानलानुरूपाम्निशूलताराः कुजात्म-  
जाः पाष्टिः ॥ नाम्ना च कौंकुमारास्ते सौम्याशासं-  
स्थिताः पापाः ॥ त्रिंशत्र्यधिका राहोस्ते तामसकील-  
का इति ख्याताः ॥ रविशशिगा दृश्यन्ते तेषां फलम-  
र्कवच्चोक्तम्' इति ॥ २२ ॥

यःपर्वणस्तस्य गतिर्न दृष्टा सैव ग्र-  
हत्वेपि महत्प्रमाणम् ॥ विलोमगामी  
विधुपात एव तस्माद्ब्रह्म राहुरिति  
प्रतीतः ॥ २३ ॥

राहोर्ग्रहत्वंप्रागुक्तप्रमाणेन भङ्ग्यन्तरेण द्रढयति ।  
उपजातिकाऽयःपर्वणो ग्रहणगोराहुस्तस्यगतिः साक्षान्न  
दृष्टा किं त्वनुमानेन ग्रहणऋक्षग एवेत्यादिना । अतो  
गतिरस्तीत्यनुमानसिद्धं सैव गतिर्ग्रहत्वे महत्प्रमाणं  
हि यस्मात्कारणादेव विधुपातो राहुर्विलोमगामी सदा  
वक्रचारी अस्ति । यथा चंद्रार्कौ सदानुलोमगामिनौ  
तथैवायं सदा विलोमगामीति । तथाच भूपालः "राहुकेतू  
सदावक्रौ शीघ्रगौ शशिभास्करो" इति । तस्माद्ब्रह्म  
राहुरिति प्रतीतः प्रत्ययं प्राप्तः । एतद्वाक्यं ग्रंथकृतो  
न भवतीति प्रतिभाति । 'प्रतिदिनखचर' इत्या-

दिना पौनरुक्त्यापात्तिः। तदिति विद्यत इत्यनेनाध्याय-  
समाप्तिप्रतीतिश्च ॥ २३ ॥

० इति विवाहवृन्दावने राहुसत्ताध्यायः  
सप्तमः ॥ ७ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्म-  
जगणेशदेवज्ञविरचितायां विवाहवृन्दावनटीकायां वि-  
वाहदीपिकायां राहुसत्ताध्यायः सप्तमः ॥ ७ ॥

अथ पङ्क्त्याध्यायः ॥ कृत्वा लग्नादकै-  
वद्रात्रिखंडं भूयो व्यक्षैस्तद्वटीभि-  
र्विलग्नम् ॥ चक्रार्धोने ते च तत्काल  
एव जायेयातामस्तमध्याह्नलगे ॥ १ ॥

अथ पङ्क्त्यादिफलानि विवक्षुस्तावत्तन्वादिभावान-  
नयनं जातकशास्त्रायामप्यत्र सौकर्यार्थमाह । नव शा-  
लिनीवृत्तानि ॥ लग्नादकैवद्रात्रिखंडं कृत्वा तस्य  
घटीभिर्भूयः पुनर्व्यक्षैर्लग्नं कार्यं तद्यथा लग्नमेव सूर्यं प्र-  
कल्प्य अयनांशान्दत्त्वा तस्माच्चरं कृत्वा रात्रिदलं कार्यं  
तमिष्टकालं प्रकल्प्य तस्मात्सायनांशलग्नाल्लंकोदयै-  
र्भोग्यादिकं कृत्वा लग्नं कार्यमिति । अर्थात्तच्चतुर्थलग्नं  
स्यात् ते द्वे लग्ने चक्रार्धोने पङ्क्त्यान्वूने कार्ये एवं ते  
तत्कालमस्तमध्याह्नलगे क्रमेण जायेयातामुत्पन्ने  
भवेताम् ॥ १ ॥

लग्नं तुर्याचतुर्थमस्ताद्विशोध्यं मध्या-  
दस्तं मध्यमैंद्रीविलग्नात् ॥ शेषत्र्यं-  
शान्द्विद्विराद्येषु दद्यादेवं भावाः सं-  
धिरेतद्वलैक्यम् ॥ २ ॥

लग्नं तुर्याच्चतुर्थलग्नाच्छोध्यं तुर्यमस्तात्सप्तमल-  
ग्नाच्छोध्यमस्तं मध्यादशमलग्नाच्छोध्यं मध्यमैंद्री-  
विलग्नाच्छोध्यम् । इन्द्रस्येयमैंद्री पूर्वा दिक्त्रयविलग्नं  
तदेव लग्नमित्युच्यते । तस्मान्मध्यं शोध्यम् । शेषाणां  
चतुर्णामपि पृथक्पृथक्त्र्यंशानाद्येषु लग्नादिषु द्वि-  
द्विवारं दद्यात् । एवममुना प्रकारेण भावाः स्युः । त-  
द्यथा लग्नं चतुर्थाद्विशोध्य तस्य त्र्यंशं लग्ने दत्त्वा  
द्वितीयभावो भवेत् । पुनरपि तमेव त्र्यंशं द्वितीय-  
भावे दत्त्वा तृतीयभावो भवेत् । एवं तुर्यमस्ताद्वि-  
शोध्य तत्त्र्यंशं तुर्ये द्विदत्त्वा पंचमपष्ठौ भावौ स्तः ।  
एवमष्टमनवमादयः एतयोर्द्विलैक्यं संधिः स्यात् तद्य-  
था द्वादशभावलग्नयोरैक्यं दलं तन्मध्यवर्ती संधिः  
स्यात् । एवं लग्नद्वितीययोर्द्वितीयतृतीययोरित्यादिः ॥

संधौ खेटोनिःफलो भावभागेस्तुल्यः  
सम्यग्भावपक्तिं व्यनक्ति ॥ संधे-  
रूनाधिक्यमाप्तो गतैष्यभावाधीनं  
संदधाति स्वपाकम् ॥ ३ ॥

अथ ग्रहफलानां भावकल्पनवशात्तारतम्यमाह ।  
 संधौ स्थितो ग्रहो निःफलः शुभफलोत्थशुभफलोपि  
 भावभागैस्तुल्यखेटः सम्यक्परिपूर्णाभावपत्तिं भा-  
 वफलं व्यनक्ति प्रकटयति । ददातीति यावत् । संधेः  
 सकाशादूनाधिक्यमाप्तः प्राप्तः खेटगतेष्यभावाधीनं  
 स्वपाकं संदधाति । संधेरूनो ग्रहो गंतभावजं फला-  
 धिकस्त्वेष्यभावजं फलं ददातीत्यर्थः । तत्पदं पादो-  
 र्धमेति त्रैराशिकेन कल्प्यम् एवमनेन विधिना यत्र भावे  
 स्थितो ग्रहस्तत्फलं भावजं लग्नराशेः सकाशाद्यावति  
 राशौस्थितो ग्रहस्तत्फलं स्वाभाविकम् ॥ ३ ॥

नांगीकारो भावजानां गुणानां तद्दो-  
 षाणां तत्त्वतस्त्याग एव ॥ भावव्यं-  
 क्तावष्टमत्वं गतोऽपि त्याज्यो लग्ना-  
 त्सप्तमः सप्तसप्तिः ॥ ४ ॥

अनयोर्विभेदे सतिनिर्णयमाह । भावेन भावक-  
 ल्पनया ये जाता गुणास्तेषां गुणानां नांगीकारः न  
 स्वीकारः तस्माद्भावाकल्पनवशाद्ये दोषास्तेषां दोषा-  
 णां तत्त्वतः साकल्येन त्याग एव । अत्र प्रथमस्योदा-  
 हरणं भावेति । स्वाभाविके लग्नात्सप्तमः सप्तसप्तिः  
 सूर्याभावव्यक्तौ सत्यां भावकल्पनया अष्टमं गतोऽपि  
 त्याज्य एव । सप्त सप्तयोऽश्वाः यस्यासौ तथा । एत-

दुक्तं भवति । सूर्यः किल सप्तमो दुष्टः अष्टमः शुभः  
स्वाभाविकेन सप्तमः सूर्यः यदि भाववशादष्टमो भवे-  
त्तदासौ शुभोऽपि त्याज्य एव ॥ ४ ॥

प्रत्याख्येयः पाक्षिकोऽपीह दोषः स-  
म्यग्व्यापी यो गुणः सोऽनुगम्यः ॥  
यस्मादंशैर्गेहभावाधिकः सन्न स्या-  
द्भूत्यै भार्गवः पंचमोऽपि ॥ ५ ॥

अथ सयुक्तिकं द्वितीयोदाहरणमाह । यस्मात्कार-  
णादोषः पाक्षिकोऽपि प्रत्याख्येयस्त्याज्यः गुणस्तु  
यः सम्यग्व्यापी सोऽनुगम्यः अनुसरणीयः । सम्यग्व्या-  
प्नोतीति सम्यग्व्यापी सर्वसंमतः पक्षांतरगतोऽपि दो-  
षस्त्याज्यो गुणस्तु सर्वसंमत एव ग्राह्य इत्यर्थः ।  
तस्मात्कारणात्पंचमोऽपि भार्गवः अंशैर्भागेर्गेहभावा-  
द्बृहभावभागेभ्यः अधिकः सन् भूत्यै शुभाय न स्या-  
त् । अयं भावः । पंचमः शुक्रः किल शुभः षष्ठोऽशुभः  
भावादुभयतो यौ संधी तदंतर्वातिनां शास्ते तद्भाव-  
वस्य अतः पूर्वसंख्येः सकाशादंशैरधिको ग्रह उत्तरभा-  
वस्थितो भवेत् । अतः स्वाभाविकेन पंचमः  
शुक्रो यदि भाववशेन षष्ठो भवेत्तथापि त्याज्य  
एव भवति ॥ ५ ॥

संक्रांत्यंतर्वासरैर्यद्वृन्दालब्धं भानु-  
 भादिमेषादिमिश्रम् ॥ भक्ता रामै-  
 र्लग्नभुक्ता नवांशा दिग्भिर्निघ्रास्त्रिंश-  
 दंशा भवेयुः ॥ ६ ॥

अथ लग्नात्तद्धटिकाज्ञानं विवक्षुस्तदर्थं तावत्संक्रा-  
 तिज्ञानमात्रेण सूर्यज्ञानं लग्नांशज्ञानं चाह । अंतर्मध्ये  
 वासराः अंतर्वासराः संक्रांत्योरंतर्वारास्ते तथा तैर्द्युवृन्दा  
 दिनगणाद्यद्वादि राश्यादि लब्धंतत् मेषादिराशिभिर्मि-  
 श्रं युक्तं भानुः स्यात् । तद्यथा संक्रांतिमारभ्य इष्टादिन-  
 पर्यंतं योगतो दिनगणः स पूर्वसंक्रातिमारभ्य उत्तरसं-  
 क्रांतिपर्यंतं ये मध्यवर्तिनो दिवसास्तैरभक्तः तस्मा-  
 द्राश्यादि यल्लब्धं तत्संक्रांतिवशेन गतराशिभिर्युक्तं  
 राश्यादिको भानुः स्यात् । अथ लग्नांशज्ञानं भक्ता  
 इति । लग्नस्य भुक्ता ये नवांशास्ते दिग्भिर्निघ्रा रामैर्भ-  
 क्तास्त्रिंशदंशा भागा भवेयुः । तद्यथा । यथोक्तविधि-  
 ना लग्नशुद्धिं नवांशशुद्धिं च विचार्य अजमृगाननतौ-  
 लीत्यादिवक्ष्यमाणोक्त्या लग्नादिममंशमारभ्य इष्ट-  
 नवांशात्पूर्वं ये नवांशा भुक्तास्ते दशग्रास्त्रिभक्तास्तल्ल-  
 ग्नराश्यधोभागाः स्युरिति राश्यादिलग्नं स्यात् ॥ ६ ॥

रात्रौ भानुर्भाधयुक्सायनांशस्तन्व-  
 कांशाः स्वोदयघ्नाः पृथक्ते ॥ त्रिंशद्भ-



तां भुक्तभोग्याः पलादि तादृक्कालो  
मध्यगः स्वोदयादयः ॥ ७ ॥

अथाभ्यां कालमाहारात्रौ भानुभार्धयुक् पट्टाशिशु  
क्तः दिवातु यथास्थितएव सायनांशः अयनांशसहि-  
तो दिवारात्रौ च अर्थाद्ध्रुवं च सायनांशं कार्यतन्वर्का-  
शाः क्रमेण भुक्तभोग्याः पृथक् स्वोदयघ्नाः त्रिंशद्भक्ताः।  
पलादि स्यात् । अर्थाद्ध्रुवं भोग्यं च तद्यथा । तनोर्ल-  
ग्रस्य भुक्तभागा लग्नोदयेन गुणिताः त्रिंशद्भक्ताः पलादि  
भुक्तं स्यात् । एवमर्कस्य भोग्यभागाः अर्कोदयेन गुणि-  
तास्त्रिंशद्भक्ताः पलादिकं भोग्यं स्यादिति तादृक्कालः  
स्वोदयादयो मध्यगः स्यात् । तदिव दृश्यतेऽसौ ता-  
दृक्स चासौ कालश्च तादृक्कालः पलादिभुक्तभोग्यका-  
लः स्वोदयैर्मध्यवर्तिभिरुदयैराध्यः मध्यगः लग्नार्कयो-  
र्मध्यवर्ती कालः स्यात् ॥ ७ ॥

तत्कालार्कन्यूनलग्नांशपिंडो भक्तः पं-  
चक्षोणिभिर्भुक्तहोराः ॥ भास्वच्छुक्रज्ञं  
दुसौरार्यभौमाः संख्यायेरन्वारतस्ते  
तदीशाः ॥ ८ ॥

अथ लग्नकालमुक्त्वा लग्नात्कालहोरामाह । स चा-  
सौ कालश्च तत्कालः तत्कालैर्कः तेन न्यूनं तच्च तल्ल-

ग्रं च तस्य अंशाः तेषांपिंडः समूहः पंचक्षोणिभिः पंच-  
दशभिर्भक्तः भुक्तहोराः स्युः । तदीशाः तासां होराणा-  
मीशा भास्वदादयो वारमारभ्य संख्यायेरन् गणयेरन् ।  
कर्मणिलिङ्गः । भास्वान् सूर्यः शुक्रः प्रसिद्धः ज्ञो बुधः  
इन्दुश्चंद्रः सौरः शनिः आयौ गुरुः भौमः प्रसिद्धः ॥८॥

होराः क्रूराः सौम्यवर्गाधिके स्युर्ल-  
ग्रे मोघाः सौम्यवारे च रात्र्याम् ॥ पा-  
पारिष्टं निःफलं शक्तिभाजां स्यात्प-  
ङ्गं लग्ने सद्गहाणाम् ॥ ९ ॥

अथ पापहोराभंगमाह । सौम्यग्रहहोरा शुभा पाप-  
होराशुभेति स्पष्टमर्थसिद्धं च । सौम्यवर्गः अधिकं  
तस्मिन् सौम्यवर्गाधिके लग्ने सति क्रूराः पापहोराः  
मोघा निःफलाः स्युः । गृहादीन्पङ्गवर्गान्वाक्ष्यति । तत्र  
चतुरधिकाः सौम्या वर्गाश्चेत्स्युस्तदा सौम्यवर्गा-  
धिक्यमिति स्पष्टम् । किंच वारे रात्र्यां च क्रूरा होरा  
मोघाः स्युः । सौम्यवारे सदा रात्रौ क्रूरवारे सत्यपीत्य-  
र्थः । तथा च गर्गः । 'क्रूरवारे क्रूरहोरा न शस्ता  
इह मंगले ॥ नातिदुष्टा शुभे वारे रात्रौ स्वल्पफलाम-  
ता' इति । वैद्यनाथः " न लग्नं सच्चतुर्वर्गे दुष्यते कालहो-  
रया " इति । एतत्प्रसंगेन अन्यस्य पापजनितस्याशुभ-  
फलस्य भंगमाह । पापारिष्टमिति । पापारिष्टं पापग्रहज-

नितमरिष्टम् अशुभं निष्फलं स्यात् । कस्मिन्सति ।  
शक्ति भाजां बलिनां सद्ग्रहाणां सौम्यग्रहाणां पङ्क्तिर्ग-  
लग्ने सति ॥ ९ ॥ :

चरार्धदेशान्तरयुग्वियोगौ क्रमेण या-  
म्योत्तरगोलगेर्के ॥ योगे पुरा रव्युद-  
याद्वियोगे पश्चात्प्रवृत्तिर्दिनवार-  
कर्तुः ॥ १० ॥

एवं कालहोराणां मतांतरमुक्त्वा सर्वसंमतं वक्ष्यं-  
स्तदर्थं तावद्धारप्रवृत्तिमाह । उपजातिका । चरार्धदे-  
शान्तरं च ग्रहगणिते प्रसिद्धं तत्र चरार्धमेव चरमुच्यते  
देशान्तरयोजनानि स्वचतुर्थांशोन्नितानि तत्पलानि  
स्युः । तेषां चरार्धपलानां देशान्तरपलानां च क्रमेण यु-  
ग्वियोगौ कार्यौ कस्मिन् सति । याम्योत्तरगोलगे अ-  
र्के सति । याम्यगोले योगः उत्तरगोलके वियोग इत्यर्थः ।  
तत्र योगे सति तैः पलैर्दिनवारकर्तुः प्रवृत्तिं रव्युदयात्पु-  
रा पूर्वं स्यात् । वियोगे सति पश्चाद्भवेत् । अतो दक्षिण  
गोले सदा पूर्वं वारप्रवृत्तिरुत्तरगोले पश्चादिति दिनस्य  
दिवसस्य वारस्य कर्ता वार एवेति यावत् । इयमुक्ता  
वारप्रवृत्तिरसंगता वासनाबाह्यत्वात् । सप्तर्षिवराहादि-  
वचनविरोधाच्च । तथाहि । लंकायां सूर्योदयात्सर्वदेशे  
किल वारप्रवृत्तिः । लंकायां यत् क्षितिजं तदन्यदेशे



त्राप्यनालंबने सतीदं वक्तव्यम् । अनेन पश्चिमदेशनिवासित्वात्स्वदेशाभिप्रायेणेदमुक्तम् यत्तत्तरगोलेअल्पचरे सति व्यभिचर्यते तत्कादाचित्कत्वात्तेनोपेक्षितमिति मंतव्यम् ॥ १० ॥

द्विघ्नेष्टनाडीशरलब्धतुल्या वारप्रदेशादपि कालहोराः ॥ संख्योक्तवत्तास्वथ यद्युभाभ्यां क्रूरा कुवर्गश्च तदातिदोषः ॥ ११ ॥

अथ होरानयनम् । इन्द्रवज्रा । वारप्रवेशाद्वारप्रवेशमारभ्य द्विघ्नाश्च ता इष्टनाड्यश्च ताभ्यः शरैः पंचभिः यल्लब्धं तेन तुल्याः कालहोराः कालहोरेशाः स्युः । अपि मतांतरद्योतने प्रागुक्तहोराः । स्युरेता अपि भवंतीत्यथ तासु होरासु संख्यागणना उक्तवत्स्यात् । भास्वच्छुक्रज्ञेत्यादिना अनयोर्मतयोः फलितमाहायदीति । यद्युभाभ्यां प्रकाराभ्यां क्रूरा होरा भवेत् कुवर्गः पापवर्गाधिक्यं च तदातिदोषो महादोषो भवेत्तदा तल्लग्नं सर्वथा त्याज्यमेवेत्यर्थः ॥ ११ ॥

गंडांतेष्वपि वैधृतावुभयतः संक्रातियामद्वयेयामार्धव्यतिपातविष्टिकुलिकर्मग्रं विलग्नं जगुः ॥ द्विद्वयूनामनवो र्कतः कुलकिनोव्येका मुहूर्ता निशि

त्याज्यास्तिथ्युडुवारजाश्च नः परे  
दोषाः खशादीन्विना ॥ १२ ॥

अथैतत्प्रसंगेनान्यांश्च महादोषानाह ॥ शार्दूलवि-  
क्रीडितम्। गंडांतानि त्रिविधानि शूलवैधृतवरयिसामि-  
त्यादिना वैक्ष्यमाणानि वैधृतः सप्तविंशो योगः संक्रांतेः  
सकाशायामद्वये उभयतः संक्रांतिकालात्प्राक्पश्चाच्च  
षोडशघटिकास्वित्यर्थः । यामार्धमर्धयामः स तु शा-  
स्त्रांतरोक्तः 'मनीषिणोर्ध्वप्रहराद्वितीयादिद्रव्यादिना व्य-  
तिपातः सप्तदशो योगः विष्टिर्भद्रा सप्तमं करणं कुलि-  
कोनंतरमेवोक्तः एतैर्गंडांतादिदोषैर्भग्नं विलग्नं जगुर्मु-  
नयः। एष्वन्यतमे दोषे सति लग्नभंगः स्यादित्यर्थः। अत्र  
कुलिकमाह। द्विद्यूना इति। द्वाभ्यां द्वाभ्यामूनाः द्विद्यूनाः  
मनवश्चतुर्दशार्कतः सूर्यमारभ्यकुलकिनो मुहूर्ता भवं-  
ति कुलिकोस्ति येषां ते कुलकिनः रवौ चतुर्दशे मुहूर्ते  
कुलिकश्चंद्रे द्वादशे भौमे दशमे इत्यादि निशि तु व्येकाः  
रवौ त्रयोदशे चंद्रे एकादशे इत्यादि दिनस्य रात्रेर्वा  
पंचदशांशो मुहूर्तः प्रसिद्धः । अथैतत्प्रसंगेन अन्येषां  
वारादिदोषाणां विषयमाह । त्याज्या इति । ये मयात्र  
उक्ता दोषाः तेभ्यः परेभ्ये तिथ्युडुवारजा दोषाः खशादी-  
न्विना न त्याज्याः आदिशब्देन हूणवंगानां ग्रहणं तिथि-  
श्च उडुश्च वारश्च तेभ्यो जातास्ते तथा तत्र तिथिजादग्धा-

स्तिथ्यादयः नक्षत्रजा उपग्रहादयः वारजाः कंटकका-  
लवेलादयः ते स्वशादिष्वेव वर्जनीयानन्यत्रेत्यतोत्र नो-  
क्ता इति ये त्वत्रोक्तास्ते सर्वदेशे त्याज्या इत्यर्थः । उक्तं  
च 'तिथ्युद्दिनपतिजाता योगा ग्राह्यास्तु हूणखशवं-  
गैः' इत्यादि । यद्वा तिथिश्च उद्दु च तिथ्युद्दु तिथ्युद्दु च  
वारश्च तिथ्युद्दु वाराः तेभ्यो जातास्ते तथा तिथिवार-  
जा नक्षत्रवारजाश्चेत्यर्थः । उक्तं च श्रीपतिना । 'विरुद्धयो-  
गास्तिथिवारजाता' इत्यादि तिथिवारजाः संवर्तकादयः  
उद्दु वारजाः मृत्युयोगकालदंडादयः तत्र केचिन्मृत्यु-  
योगं सर्वदेशे त्यजन्ति तद्वाक्यं च 'सर्वदा सर्वदेशेषु  
मृत्युयोगं विवर्जयेत्' इति ॥ १२ ॥

राश्यंशाः शशिभूगुणेष्वक्षणाहतास्ति-  
थ्यभ्रभूदिकछरैर्भक्ता भार्धदकाण-  
नंददिनकृद्भागा गृहं यस्य यत् ॥ त्रि-  
शांशाः सितसौम्यजीवरविजक्ष्माज-  
न्मनां व्युत्क्रमादोजर्क्षेषु शराश्वसर्प-  
मस्तः पंचेति पाङ्गुर्गिकाः ॥ १३ ॥

अथ लग्ने पङ्गुं शुद्धिमाह । शार्दूलविक्रीडितं । राशेः  
अंशाः राश्यंशाः राशिभुक्तांशाः राशिन्संत्यज्य अंशा  
ग्राह्या इत्यर्थः । ते चतुर्षु स्थानेषु क्रमेण शशिभूगुणे-  
क्षणहताः ॥ १ । १ । ३ । २ ॥ ईक्षणे द्वौ शेषाः स्प-

ष्टाः तिथ्यभ्रभूदिवर्धैर्भक्ताः १५ । १० । १० । ५ ॥  
 अभ्रभुवो दशशेषाः प्रसिद्धाः लब्धानिभार्धादयो वर्गाः  
 स्युःभार्ध होरा दृक्काणोद्रेष्काणः नन्ददिनकृद्भागौ नवां-  
 शद्वादशांशौ एवं चत्वारो वर्गाः यस्य ग्रहस्य यद्गृहं  
 तस्यैव अयमेको गृहाख्यः । अथ त्रिंशांशः समराशौ  
 सितादीनां पंचादयस्त्रिंशांशः त्रिंशतः पूरणास्त्रिंशाः  
 "शदंतविंशतेश्च" इति उपप्रत्ययः । त्रिंशाश्चते अंशाश्च त्रिं-  
 शांशाः । तद्यथा समराशांवाद्याः पंचभागाः शुक्रस्य ततः  
 सप्त बुधस्य ततोष्टौ गुरोः ततः पंच शनेः ततः पंच  
 भौमस्येति ओजर्क्षेषु विपमराशिषु व्युत्क्रमात् भागा-  
 नामधिपतीनां च । तद्यथा आद्याः पंचभौमस्येति ।  
 ओजर्क्षेषु विपमराशिषु व्युत्क्रमात् भागानामधि-  
 पतीनां च । तद्यथा आद्याः पंच भौमस्यं ततः पंच  
 शनेः ततोष्टौ गुरोः ततः सप्त बुधस्य ततः पंच शुक्र-  
 स्येति । अत्र सितादीनामेवोत्क्रम इति न व्याख्येयं  
 गर्गादिवचनविरोधात् । इतीयं षड्वर्गिका स्यात् । षण्णां  
 वर्गाणां समाहारः षड्वर्गा सैव षड्वर्गिका ॥ १३ ॥

कुजकवीं दुजचंद्रवींदुजाः सितकु-  
 जेज्ययमार्कजसूरयः ॥ भवनपाल-  
 वपाश्च तदादयस्त्वजमृगाननतौलि-  
 कुलीरकाः ॥ १४ ॥



अथ सौम्यपापवर्गज्ञानाय राश्यधिपानाह ॥ द्रुतवि-  
लंबितम् । कुजादयो भवनपा राश्यधिपाः स्युः मेपादीनां  
द्वादशराशीनां कुजादयो द्वादशयोर्द्वादशक्रमेणाधिपाः  
स्युरित्यर्थः । एवं गृहाधीशाः । अथ नवांशस्य एते लवपाः  
नवांशपतयश्च स्युः । नवांशराशेरप्यधिपाः स्युरि-  
त्यर्थः । तमेव नवांशराशिमाह । तदादय इति । तस्य  
नवांशस्योदयः प्रथमाः अजमृगाननतौलिकुलीरकाः  
स्युः मेपराशौ प्रथमनवांशो मेप एव वृषे मकरः मिथुने  
तौली कर्के चर्कट एव एवं पुनः सिंहे मेपः कन्या-  
यां मकर इत्यादि । एवं प्रथमनवांशं ज्ञात्वा तमार-  
भ्य प्रागानीतभुक्तनवांशान् गणयित्वा वर्तमाननवांश-  
राशिः स्यात् । तदधिपो नवांशाधिपतिरिति ॥ १४ ॥

होरे समेऽब्जखगयोर्विपमे रवीन्द्रो-  
र्द्रे क्काणकाः प्रथमपंचनवेश्वराणा-  
म् ॥ स्युर्द्वादशांशपतयः स्वगृहाच्छु-  
भानि भानि ग्रहाश्च निजमित्रशुभां-  
शभाजः ॥ १५ ॥

अथ होरादीनाह । वसंततिलका । समे संमराशौ अब्ज-  
खगयोर्होरे स्तः अब्जश्चंद्रः खगः सूर्यः । खगः पूषा गभ-  
स्तिमान् । इत्यभिधानात् । विपमे राशौ क्रमेण होरे स्तः  
प्रागानीतलब्धवशात्समे राशौ प्रथमा होरा चंद्रस्य

द्वितीया सूर्यस्य विषमे प्रथमा सूर्यस्य द्वितीये-  
 दोरित्यर्थः । अथ द्रेक्षाणाधीशाः । द्रेक्षाणकाइति ।  
 स्वगृहात्प्रथमपञ्चनवेश्वराणां द्रेक्षाणाः स्युः ।  
 तद्यथा । यदा शून्यं लब्धं तदा प्रथमो वर्तमानः ।  
 यदा एकं तदा द्वितीय इत्यादि अनेन विधिना  
 प्रथमो द्रेक्षाणो राश्याधिपस्यैव द्वितीयस्तस्माद्वाशेः  
 पञ्चमाधिपस्य तृतीयो नवमराश्याधिपस्येति ।  
 अथ द्वादशांशः स्वगृहात्द्वादशांशपतयः स्युः ।  
 स्वीयलब्धवशात् द्रेक्षाणवत् त्रिंशांशानां  
 स्वामीन एवोक्ताः । एवं पङ्क्तिर्गाधीशा उक्ताः अथैषां  
 शुभत्वमाहाशुभानीति । शुभानां सौम्यग्रहाणां भानि  
 राशयः शुभानि स्युः यद्द्वर्गस्य राशेरधिपः शुभः स्या-  
 दित्यर्थः । न केवलं राशिः किंतु ग्रहाश्च  
 निजमित्रशुभांशभाजः शुभाः । निजश्च मित्रं च शु-  
 भश्च तेषामंशो नवांशः तं भजंति ते तथा स्वसुहृच्छु-  
 भानां नवांशस्थिता इत्यर्थः । वर्गराशेरप्यधिपः एवं  
 विधस्तदैव वर्गःशुभ इतिभावः ॥ १५ ॥

भजेत भुक्त्यंतरभुक्तियोगैः पृथक्पृ-  
 थक्पष्टिशुणान्शुणाग्नीन् ॥ तिथीः  
 भयोगान्तरनाड्यइंदोः पुण्या रवेः पु-  
 ण्यतमास्त्विनाः स्युः ॥ १६ ॥

अथ तिथ्यादीनां संधिकालमाह । उपजातिका ।  
 पष्टिगुणान् गुणाग्नीन् पृथक्पृथक् भुत्तयंतरभुक्ति-  
 योगैः भजेत् क्रमेण तिथीभयोगांतरनाड्यः स्युः ।  
 भुत्तयंतरंच मुक्तिश्च भुक्तियोगश्च ते तथा । चंद्रार्क-  
 योर्भुत्तयंतरंभुक्तिश्चंद्रस्यैवयोगश्चंद्रार्कभुक्तियोगःतद्य-  
 था त्रयस्त्रिंशतं पष्ट्यासंगुण्य त्रिधा संस्थाप्य क्रमेण  
 चंद्रार्कभुत्तयंतरेण चंद्रभुत्तया चंद्रार्कभुक्तियोगेन च  
 विभज्य तिथिनक्षत्रयोगानां संधिनाड्यः स्युरित्यर्थः ।  
 तिथिशब्दस्य स्त्रीलिङ्गेऽपि सत्त्वात् “कृदिकारात्” इति  
 ङीपिकृते तिथीति सिद्धम् । उक्तं च सिद्धांते । शशितनु  
 विकलाभ्य इति । एता एव मध्यगत्या आनीय वक्ष्यति  
 नक्षत्रयोगेत्यादिना । चंद्रार्कयोः संक्रमणकालमाह ।  
 इंदोरिति । इमा अनेनैव प्रकारेण साधिता अंतरनाड्यः  
 इंदोः पुण्या रवेस्तु पुण्यतमाः स्युः । एतदुक्तं भवति ।  
 रवेश्चंद्रस्यापि विंशं त्रयस्त्रिंशत्कलाः अतोऽनयेव रीत्या  
 त्रयस्त्रिंशतं पष्ट्या संगुण्य स्वस्वगत्याविभज्य अंतर-  
 कालः स्यात् । स चंद्रस्य पुण्यः रवेस्त्वतिशयितः  
 पुण्यः । अयं कालो नक्षत्रयोराशयोर्वा अंतराले भवेत्  
 संक्रमणकाले इत्यर्थः ॥ १६ ॥

कुजादिकानामपि विंवल्लिप्ताः स्वपङ्क्त-  
 णाः स्वस्वजवेन भाज्याः ॥ नाड्या-

दिकः संक्रमणांतरालकालः स्फुट-  
स्तत्स्फुटभुक्तिविंवे ॥ १७ ॥

• अथ भौमादीनामपि संक्रमणकालमाह । उपजा-  
तिका । कुजादिकानां भौमादीनामपि प्रागुक्ता विं-  
लिप्ताः स्वषड्गुणाः स्वस्वजवेन स्वस्वगत्याभाज्याः संक्र-  
मणांतरालकालो नाड्यादिको भवेत् । अत्र विंबानि  
मध्यान्येवोक्तानितिभ्यः कृतोयः संक्रमणकालः सोऽपि  
मध्यो भवेत् । तत्स्फुटभुक्तिविंवेः स्फुटः स्यात् ।  
तेषां भौमादीनां ग्रहगणितोक्त्या स्फुटभुक्तिभिः  
स्फुटविंवेश्च स्फुटकालः स्यात् । एषांसंधिकालादीना-  
मर्थं तदंतादुभयत्रेत्यर्थसिद्धम् ॥ १७ ॥

रवैर्भवेदेकगृहाधिकस्य यदंशवृंदं  
खलु सायनस्य ॥ यदत्र राशिद्वय-  
भागतष्टलब्धं वसंतादृतवो भवन्ति ॥ १८ ॥

• अथ ऋत्वादिसंधीन्विबक्षुः ऋत्वानयनं तावदाह ॥  
उपजातिका । एकगृहाधिकस्य एकराशियुक्तस्य सा-  
यनांशस्य अयनांशसहितस्य स्वेर्यदंशवृंदं भाग-  
समूहो भवेत् । तद्वाशिद्वयभागैः षष्टिभिस्तष्टं  
भक्तं यल्लब्धं ते वसंताद्वसंतमारभ्य ऋतवो  
भवन्ति । मृगादिराशिद्वयभोगादित्युक्त्या मीनादौ

वसंतारंभः । अत उक्तम् । एकगृहाधिकस्येति । याव-  
द्भिरंशैरयनच्युतिः स्यादित्युक्तत्वात्सायनस्येत्युक्तम् ।  
एवं केचिद्वत्त्वयनादीनि सायनाकारादिच्छन्ति तदभिप्रा-  
येणेदमुक्तम् । केचितु केवलादेव उभयादपि । केचि-  
त्कालनिर्णयकारादयः ॥ १८ ॥

तत्संधयोऽंगांगघटीसमाः स्युर्द्विसं-  
गुणाश्चेद्विपुवायनीयाः ॥ स संधिसं-  
धिः खलु यत्र शेषः शून्यं भवेदेव  
विशेषपुण्यः ॥ १९ ॥

अथ ऋत्वादीनां संधिकालमाह । तेषामृतूनां  
संधयः अंगांगघटीसमाः पट्टपाटिकातुल्याः स्युः ।  
तदन्तास्त्रयस्त्रिंशद्वटिकाः पूर्वं पश्चाच्चेत्यर्थः । चेद्विपुवा-  
यनीयास्तर्हि द्विसंगुणाः द्वात्रिंशदधिकशतवटिकाः  
इत्यर्थः । विपुवं च अयनं च विपुवायने तयोरिमा  
विपुवायनीयाः विपुवं मेपतुलासंक्रमौ अयनं कर्कटम-  
करसंक्रमौ तत्पूर्वपश्चाच्च पट्टपाटि घटिका इत्यर्थः । यत्र  
काले इति शेषः । शून्यं भवेत् । राशिद्वयभागतष्टमिति  
क्रियमाणे यदा शून्यं शेषं भवेत् । एकस्यांतोऽन्यस्या  
दिरित्यर्थः । ससंधिसंधिर्भवेत् संधेरपि संधिः संधि-  
संधिः एव कालः विशेषपुण्यः अतिशयितपुण्यः ।

अत्र संधिसंधौ पुण्ये विशेषग्रहणात्संधिकाले साधारणपुण्यमस्तीति सूचितम् ॥ १९ ॥

संधौ पुरंध्री शुचमेति वंध्या मृतप्रजावा यदि संधिसंधिः ॥ वदन्ति वात्स्या ऋतुना विमूढा निशीथमध्यंदिनसंधिषूढाम् ॥ २० ॥

अथैषां संधीनां फलमाह । उपजातिका । संधौ तिथिनक्षत्रादिसंधिकाले पुरंध्री स्त्री शोकमेति प्राप्नोति । यदि संधिसंधिस्तदा पुरंध्री वंध्या मृतप्रजा वा भवेत् । अथैतत्प्रसंगेन मध्यंदिनमध्यरात्रसंधिकालयो फलमाह । वदन्तीति । निशीथमध्यंदिनसंधिषु ऊढां विवाहितामृतुनाविमूढामार्तवरहितां वात्स्या मुनयो वदन्ति वत्सस्यापत्यानि वात्स्याः निशीथोर्द्धरात्रः मध्यं दिनस्येति मध्यंदिनं तेषां संधयः । तत्परिमाणमुक्तं ग्रन्थान्तरे । “मूर्तः कालो निवसति महानिशार्या च दिनदले यस्मात् ॥ दश पूर्वं दश परतस्तस्माद्भज्यानि च पलानीति ॥ २० ॥

शूलवैधृतवरीयसां च यत्पंचमेषु च तिथिष्वर्वांतरे ॥ रेवतीद्रफणिभोद्धवं तदप्यागतादिद्व्युणमुत्सृजेत्सुधीः ॥ २१ ॥

अथ शूलादियोगसंधीनां विशेषमाह ॥ रथोद्ध-  
तम् । शूलश्च वैधृतश्च वरीयांश्च एषां योगानां  
यत्प्रागागतमवांतरं यच्च पंचमेषु तिथिषु पंचमीद-  
शमीपंचदशीषु यच्च रेवतींद्रफणिभोद्धवं रेवतीज्येष्ठा-  
श्लेषोद्धवं तदपि आगतादेवांतराद्विगुणं सुधीः उत्सृजे-  
त्यजेत् । एतेषां मतादेतच्चुल्यं पूर्वं पश्चाच्चेत्यर्थः । एत-  
द्दंडांतसंज्ञम् ॥ २१ ॥

नक्षत्रयोगतिथिसंधिषु नाडिकैका  
तिथ्यष्टविंशतिपलैः सहितोभयत्र ॥  
कर्कालिमीनतनुसंधिषु दिक्पलानि  
त्याज्यानि शेषविवरेष्वपि पंच  
पंच ॥ २२ ॥

अथ तिथ्यादीनां संधिव्यवहारार्थं मध्यगत्यानीय  
पठति । वसंततिलका । नक्षत्रयोगतिथीनां संधिषु एका  
नाडिका क्रमेण तिथ्यष्टविंशतिपलैः सहिता उभयत्र  
पूर्वं पश्चाच्च त्याज्या । एका नाडिका पंचदशपलैः स-  
हिता उभयत्र पूर्वं पश्चाच्च त्याज्या । एका नाडिका  
पंचदशपलैः सहिता नक्षत्रसंधिः । अष्टपलैः सहिता यो-  
गसंधिः । विंशतिपलैः सहिता तिथिसंधिरित्यर्थः । ल-  
ग्नसंधिमाह । कर्कालीति । कर्कालिमीनतनुनां कर्कवृ-

श्विकमनिलग्नानां संधिषु दिक्पलानि दशपलानि उ-  
भयत्र त्याज्यानि । एषाम् अंतात्पूर्वं पश्चाच्चेति शे-  
षाणां वृषादिलग्नानां विवरेषु संधिषु पंच पंच पलानि  
उभयत्र त्याज्यानि । एष संधिरशानामपि ज्ञेयः । ल-  
ग्नोपलक्षणात् ॥ २२ ॥

अमा तिथिः पार्श्वतिथिद्वयेन समं  
न मांगल्यमुपादधाति ॥ लोकं पृ-  
णस्तत्र तिथेः प्रणेता यस्मान्न पीयू-  
षवपुर्वपुष्मान् ॥ २३ ॥

अथ माससंधिमाह । उपजातिका । अमा अमावा-  
स्या तिथिः पार्श्वयोस्तिथिद्वयेन समं सह । 'सार्द्धं सा-  
कं समं सह' इत्यमरः । चतुर्दशीप्रतिपत्सहितेत्यर्थः । मां-  
गल्यं न उपादधाति न धारयति । अत्र हेतुमाह । लो-  
कमिति । यस्मात्कारणान्तत्र तस्मिन् तिथित्रये लो-  
कंपृणश्चंद्रमाः लोकं पृणाति असौ लोकंपृणः पूपालन-  
पूरणयोः । कर्तरि शः शित्वात् " लोकस्य पृणे " इ-  
ति मुम् । तिथेः प्रणेता प्रवर्तकः पीयूषवपुर्मृतशरीरः  
वपुष्मान् प्रशस्तं वपुर्यस्यासौ वपुष्मान्नास्ति । चतुर्द-  
श्यादिषु कृष्णपक्षे एवंविधस्य चंद्रस्य अस्तं गतत्वा-  
दित्यर्थः । चंद्रो ह्यमृतकिरणो लोकाप्यायकस्तिथिप्र-  
वर्तक इति ॥ २३ ॥



उदेति चायं प्रतिपत्समाप्तौ कृशोऽ-  
पि वर्धिष्णुतया प्रशस्तः ॥ द्वापांतर-  
स्थो विफलोऽपि तावद्भावन्न पृथ्वी-  
नयनाध्वनीनः ॥ २४ ॥

अन्यैश्चंद्रवात्यत्वाद्धितीया निषिद्धा तन्मतं निषे-  
धयन् किञ्चिद्विशेषमाह । उपजातिका । अयं चंद्रमाः  
प्रतिपत्समाप्तौ प्रतिपदंते उदेति च । सामीप्ये सप्तमी ।  
प्रतिपदंते तत्समीपे वेत्यर्थः । दृक्कर्मादिसंस्कारवशात्  
स उदितश्चंद्रः कृशोऽपि वर्धिष्णुतया हेतुना प्रशस्तः  
वर्धनशीलो वर्धिष्णुः तस्य भावस्तया । यथा शिशु-  
वर्धमानतया प्रशस्यते तद्वच्चंद्रोऽपीत्यर्थः । अतोऽस्य  
बालत्वदोषो नास्तीति सूचितं तस्यापि विशेषमाह ।  
द्वीपेति । द्विगता आपो यस्मिन् तद्वीपं तस्मादन्य-  
द्वीपं द्वीपांतरं तत्र तिष्ठतीति द्वीपांतरस्थः । देशांत-  
रदृष्ट इत्यर्थः । देशांतरदृष्टश्चंद्रस्तावद्विफलः तावत्कथं  
यावत्पृथ्वीनयनाध्वनीनो नास्ति । पृथ्वीशब्देन तत्र-  
स्था जना लक्ष्यंते तेषां नयनानि पृथ्वीनयनानि तेषा-  
मध्वा मार्गस्तस्मिन्नलं गच्छतीति पृथ्वीनयनाध्वनीनः ।  
“अध्वनोयत्स्वा” इत्यलंगाम्यर्थे खः । “आत्माध्वानौ खे”  
इत्यतः प्रकृतित्वम् । यद्वा पृथ्वीनयनाध्वनिइनः समर्थः  
पृथ्वीनयनमार्गे क्षम इति । एतदुक्तं भवति । शास्त्रेण दृष्ट-

श्वेद्रो देशांतरदृष्टः । इदं 'लंकापुरेऽर्कस्ययदोदयः स्यात्तदा दिनार्धं यमकोटिपुर्याम्' इत्यादि गोलवासनया प्रसिद्धम् । अतः स्वदेशभूमिस्थितैर्जनैर्यावन्नदृष्टस्ता वद्विफल इत्यर्थः । अभ्रादिना तु अदर्शने न दोष इति प्रसिद्धमेव ॥ २४ ॥

नो जन्ममासतिथिभेषु न चाधिको-  
ने मासे तिथौ च पृथु मंगलमामनं-  
ति ॥ यज्ज्येष्ठगर्भजमपत्यमुपेतमे-  
तज्ज्येष्ठे महोत्सवमवश्यमियान्न  
वृद्धिम् ॥ २५ ॥

अथ जन्ममासादीनां निषेधमाह । वसंततिलका । जन्मनि मासतिथिभानि तेषु जन्ममासि जन्मतिथौ जन्मनक्षत्रे वेति पृथु मंगलं चौलोपनयनविवाहादिकं नो आमनन्ति न कथयन्ति न च अधिकोने मासे अधिमासे क्षयमासे चेति अधिकोने तिथौ च दिनवृद्धौ दिनक्षये वेति ज्येष्ठमासस्य विशेषमाह । यज्ज्येष्ठेति । यज्ज्येष्ठगर्भजमपत्यं पुत्रः कन्या वा तज्ज्येष्ठे मासे महोत्सवं चौलोपनयनविवाहादिकमुपेतं प्राप्तं तदवश्यं वृद्धिं न इयात् न प्राप्नुयात् । ज्येष्ठमासे मंगलं शुभमेत्यर्थः ॥ २५ ॥

इत्यतीन्द्रियदृशो निरुचिरे यद्गुणा  
गुणमयं मुनीश्वराः॥दैवविद्विदितज-  
न्मतन्मतः कीर्तिभागभवति लग्नल-  
ग्रधीः ॥ २६ ॥

अथैषां गुणदोषाणां विवेककर्तुः प्रशंसामाह । रथो-  
द्धतम् । इति यदुक्तं गुणागुणमयं गुणाश्च अगुणाश्च गु-  
णागुणाः तैः प्रचुरं गुणागुणमयमतीन्द्रियदृशो दि-  
व्यद्रष्टारो मुनीश्वराः निरुचिरे निजगदुः । विदितजन्म  
तन्मतः लग्नलग्नधीः दैववित्कीर्तिभागभवाति । तच्च त-  
न्मतमस्य तच्छब्दस्य पूर्वेण यच्छब्देनान्वयः । जन्म च-  
तन्मतं च जन्मतन्मते विदिते जन्मतन्मते येनासौ  
तथा॥ एवंविध गुणदोषविचारचतुरो लग्ननिहितैकबुद्धिः  
कीर्तिमान् भवतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

इति विवाहवृंदावने लग्नपङ्कगाध्या-  
योऽष्टमः ॥ ८ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्मज  
गणेशदैवज्ञविरचितायां विवाहवृंदावनटीकायां विवाह-  
दीपिकायां लग्नपङ्कगादिशुद्धचधिकारोऽष्टमोऽध्यायः ८

अथ गोधूलिकाध्यायः ॥ प्राचीं कुं-  
कुमचर्चितामिव दिशं मुक्ताफलस्र-

ग्विणीं कौसुभांशुकभासिनीमिव दि  
शं प्राचेतसीं दर्शयन् ॥ यावद्याति  
करग्रहं सह रविः संध्याकुरंगीदृशा  
तावन्मंगलमंगलग्नसुरभीरेणोः करं  
गृह्यतः ॥ १ ॥

एवं सर्वलग्नानां शुद्धिमभिधायेदानीं गोधूलिकल-  
ग्रविशेषशुद्धिरारभ्यते। तत्र तावत्तस्य कालं दर्शयन्स्व-  
कविताकौशलं दर्शयति। शार्दूलविक्रीडितम्। तावत्प-  
र्यंतमंगलग्नसुरभीरेणोः कुमार्याः करं पाणिं गृह्यतः  
स्वीकर्तुः पुरुषस्य मंगलं भवति सुरभीणां धेनूनां रे-  
णुः धूलिः सुरभीरेणुः। अंगेषु लग्नाः संसक्ताः सुरभी-  
रेणवो यस्याः सा तथा। धेनुधूलिधूसराया इत्यर्थः।  
तावत्कथं यावद्रविः सूर्यः संध्याकुरंगीदृशा सह करग्र-  
हं याति कुरंग्या दृगिव दृग्यस्याः सा तथा मृगलोचना  
संध्येव कुरंगीदृक् संध्याकुरंगीदृक् तथा। अत्र संध्या  
सायंसंध्येव तत्र सुरभीरेणूनां संभवात् किं कुर्वन्सन्।  
कुंकुमचर्चितामिव प्राचीं दिशं प्रति आत्मानं दर्शयन्।  
इवोत्प्रेक्षायाम्। कुंकुमेन चर्चिता। मंडिता दृशेण-  
जंतत्त्वाद्विकर्मकत्वम्। सायंकाले प्राच्यां कुंकुमसदृशः  
स्वाभाविकः संध्यारागः स कुंकुममिवेत्युत्प्रेक्षा। क-  
थंभूतां प्राचीं मुक्ताफलस्रग्विणीं मुक्ताफलानां स्रक्

मुक्ताफलहारः सोस्ति यस्याः सा मुक्ताफलस्रग्विणी ताम् । मत्वर्थायो विनिः । अर्थान्नक्षत्रमालैव मुक्ताफलस्रक् कामिव दर्शयन् प्राचेतसीं दिशमिव प्रचेतसो वरुणस्ये-  
यं प्राचेतसी तां प्रतीचीम् । इव यथार्थे । यथा प्राचीं तथा प्राचेतसीमिति । तेन प्राचीदिशं प्राचेतसीं च दिशं दर्शयन्निति भावः । कथंभूतां प्राचेतसीम् । कौसुं-  
भांशुकभासिनीं कुसुंभ्याः पुष्पाणि कुसुंभानि तै-  
रक्तं कौसुंभं तच्च तदंशुकं च तेन भासते सा तथा ।  
अर्थात्संध्याराग एव कौसुंभांशुकमिति । यद्वा कौसुं-  
भांशुकमिव भासते सा यावत्सायं संध्याकाले एतादृ-  
शः संध्यारागः सुरभीरेणवश्चदृश्यते तावत्काले कर-  
ग्रहकर्तुर्मंगलं स्यादिति तात्पर्यार्थः ॥ १ ॥

उत्कर्णतर्णकविलोकनवल्गुवल्गत्पी  
नस्तनोद्धृपितदुर्धरधेनुधूलिः ॥ गो-  
धूलिकं सृजति गोपट्थगजनानां  
दोषैर्महद्भिरपि लग्नमनूनमन्यैः ॥ २ ॥

अथ गोंधूलिकप्रशंसां तदाधिकारिणश्चाह । वसं-  
ततिलका पंच श्लोकाः । उद्धूर्वा कर्णी येषां ते उत्कर्-  
णाः ते च ते तर्णकाश्च तर्णका वत्साः तेषां विलो-  
कनं तेन वल्गवः शोभमानाः वल्गन्ति ता वल्गन्त्यः

वल्गनं गतिविशेषः पीना मांसलाः स्तना ग्रासां ताः  
 पीनस्तनाः उदुत्कर्पेण हृषिताः संतुष्टा उद्धृषिताः ।  
 हृषेर्निष्ठायां वेङ्कत्वम् दुःखेन धर्तुं शक्यन्ते ताः दुर्धराः  
 उत्कर्णतर्णकविलोकनेन वल्गवश्च ता वल्गन्त्यः पीन-  
 स्तना उद्धृषिता दुर्धराश्च ता धेनवश्च तासां धूलय-  
 स्तास्तथा ताः । कर्मगोधूलिकं लग्नं कर्तुं गोपपृथग्ज-  
 नानां सृजत्युत्पादयति ददातीत्यर्थः । गवां धूलय-  
 स्तत्र भवं तदुपलक्षितकाले जातं लग्नं तद्गोधूलिकं  
 गोपाः पशुपालकाः पृथग्जना हीनवर्णाः गोपादीनां  
 गोधूलिलग्न्ये एवंविधधेनवो भवन्तीति भावः । अस्य  
 प्राशस्त्यमाह । दोषैरिति । कथं भूतलग्नम् अन्यैर्म-  
 हद्भिर्दोषैः अनूनं सहितमपि । अयं भावः । गोधूलिक-  
 लग्न्ये सदा सप्तमः सूर्योऽस्त्येव । अयं महादोषः । मद-  
 नमूर्तिशय इत्युक्तत्वात् । एतदन्यैर्महादोषैरष्टमभौ-  
 मादिभिः सहितमपि लग्नं शुभं भवेदिति ॥ २ ॥

गोधूलिकेपि विधुमष्टमपष्टमूर्तिं य-  
 न्मोचयन्ति तदयं स्वरुचिप्रपञ्चः ॥  
 पञ्चांगशुद्धिमयमेव विवाहधिष्ण्यैर्य-  
 स्मादिदं सततमस्तगते पतंगः ॥ ३ ॥

यद्येवं तर्हि केचित्पष्टाष्टमचन्द्रे सति लग्नस्य भंग-  
 माहुस्तन्निरस्यति । गोधूलिकेपि अष्टमपष्टमूर्तिं विधुं

यत्केचिन्मोचयन्ति त्याजयन्ति । तत्तस्मात्कारणादयं  
 स्वरुचिप्रपञ्चः अष्टमं च पष्ठं च अष्टमपष्ठे, तयोर्मूर्तिर्देहो  
 यस्यासौ तथा । अष्टमपष्ठस्थित इत्यर्थः । तद्वाक्यं  
 च 'जामित्रं न विचिंतयेद्ब्रह्मयुतम्' इत्यादि । 'हित्वा चं'  
 द्रमसं पडाष्टमगतं गोधूलिकं शस्यते' इति । अयं स्वरु-  
 चेः स्वस्याभिरुचेः प्रपञ्चो विस्तारः । यद्वा स्वरु-  
 च्या कृत्वा प्रपञ्चो व्यामोहनं जनानाम् । तस्मात्कुतः  
 यस्मादिदं गोधूलिकं विवाहधिष्ण्यैः सह पञ्चांगशुद्धि-  
 मयमेव पञ्चांगशुद्ध्या प्रधानं पञ्चांगशुद्धिमयं गोधूलि-  
 के विवाहनक्षत्रेषु सत्सु पञ्चांगशुद्धिरेव मुख्या नत्वन्य  
 छग्रशुद्ध्यादिकमिति । पञ्चांगादीनि तिथ्यादीनि प्राप्ति-  
 दानि । तेषां शुद्धिः स्वाभाविकदोषविरहः । यथारोहि-  
 ण्यादिषु विवाहे हितत्वात् । तर्हि विवाहधिष्ण्यैरिति  
 पौनरुक्त्यं तन्नक्षत्रस्य प्राधान्यात् । उक्तधिष्ण्यमधि-  
 कृत्य पञ्चांगशुद्धिर्विलोक्येत्यर्थः । एतदग्रे प्रपञ्चयि-  
 ष्यामः । एतत्कथं यस्मात्कारणादिदं गोधूलिकं सत-  
 तं नित्यमस्तगते सप्तमगते पतंगे सूर्ये सति भवेत् ।  
 एतादृशे महादोषे गृहीते सति किं त्वन्ये पष्ठाष्टमचं-  
 द्रादय इति भावः । अनेनैव अष्टमभौमादयोपि नि-  
 राकृताः ॥ ३ ॥

नांशो न लग्नमिह दृष्टयुतं स्वभर्त्रा  
 नाकारसौरतमसामपि संगभगः ॥

किं चंद्रचारभयमेकमिहास्तु किं-  
चिन्नात्र प्रमाणवचनं किमपि श्रुतं नः॥

° किंच इहास्मिन्गोधूलिके अंशो नवांशः स्वभर्त्रा स्व-  
स्वामिना दृष्टयुतो नास्तु लग्नं च स्वभर्त्रा दृष्टयुतं  
नास्तु अर्धरसौरतमसां सूर्यभौमशनिराहूणां सं-  
गो योगस्तेन भंगो लग्नभंगः सोऽपि नास्तु । एवं सत्येकं  
चंद्रचारभयं किमस्तु । चंद्रस्यचारस्तस्माद्भयं हित्वा  
चंद्रमसं पष्टाष्टमगतमिति । एतदेकं कथमस्त्विति । अ-  
पितु तदपि नास्तु । नन्वत्रागमऽएव 'प्रमाणमिति  
चेत्तत्राह । किंचेति । किंच अन्यच्च अत्रास्मिंश्चंद्रचार-  
विषये वो युष्माकं प्रमाणवचनं किमपि श्रुतम् अस्मि-  
न्विषये यद्वाक्यं प्रमाणीकर्तव्यं तादृशं महर्षिसंमतवा-  
क्यं नास्तीति भावः ॥ ४ ॥

सार्कं शनौ विरविचित्रशिखांडिसूनौ  
तत्केवलं कुलिकया मदलोपलंभात्॥  
प्रायेण शंकरभुवामशुभर्क्षपक्षभूरक्ष-  
णेषु शुभकृत्करपीडनं स्यात् ॥ ५ ॥

तर्ह्यत्र किं विलोक्यमिति आह । तद्गोधूलिकं शनौ  
शनिवारे सार्कं कार्यं दृश्ये रवौ सतीति चित्रशिखांडिनः  
सूनौ गुरुवारेऽपि कार्यं । विगतो रविर्यस्मिन्स्तद्विरवि



अस्तंगतेऽर्के सतीति कस्मात् कुलिकयामदलोपलंभा-  
त् कुलिकश्च यामदलं च तयोरुपलंभः प्राप्तिः शनौ हि  
रात्रौ प्रथममुहूर्ते कुलिकः अतः सार्कं गुरौ तु अष्टमया-  
मार्धमतो विरवीति केवलमिदमेवं पंचांगमध्ये वारदोष-  
सद्भावात् । न त्वन्यदिति । एतत् किं तत्राह । प्रायेणेति ।  
संकरेण जातिसंकरेण भवंति ते संकरभुवः तेषां  
हीनवर्णानां करपीडनं प्रायेण बाहुल्येन अशुभर्क्षपक्ष  
क्रूरक्षणेपु शुभकृत्स्यात् । ऋक्षं च पक्षश्च ऋक्षपक्षौ  
अशुभौ च तौ ऋक्षपक्षौ च तौ तथा । क्रूरश्चासौ क्षण-  
श्च स तथा । अशुभर्क्षपक्षौ च क्रूरक्षणश्च ते तथा ।  
एतदुपलक्षणादुष्टवारयोगादप्यपि । एष्वपि हीनव-  
र्णानां पाणिपीडनं शुभं किं पुनः पंचांगशुद्धाविति भा-  
वः । तथाच शौनकः “अंत्यानामशुभर्क्ष” इत्यादि ॥५॥

अत्रोभयत्र घटिकादलमिष्टमाहुर्ग्रा-  
ह्यस्तदंवरमणेरपि नार्धर्विवः ॥ का-  
लार्गलानियतये तपनार्धर्विववेला-  
व्यवस्थितिरियं रचयांबभूवे ॥ ६ ॥

यदुक्तं सार्कमित्यादितत्परिमाणमाह । अत्रास्मिन्  
गोघूलिके यस्मात्कारणादुभयत्र अर्धास्तमयात्प्राक्प-  
श्चाच्च घटिकादलमिष्टमाहुः । तत्तस्मात्करणादंवरमणेः

सूर्यस्य अर्धविंबोपि कालो न ग्राह्यः । अर्धविंबं काले यस्मिन्स तथा । तर्हि तद्वाचकवाक्यानामर्धोदिते-  
 धास्तमिते सूर्यविंबे दृशंगत इत्यादीनां गतिमाह ।  
 कालार्गलेति । इयं तपनार्धविंबवेलाव्यवस्थितिः कालार्गलार्गलानियतये मुनिभिः रचयांबभूवे अरचि ।  
 णिजंताद्रूपतः कर्मणि लिटि भुवोनुप्रयोगः तपनस्य अर्धविंबं तस्य वेला कालः तस्य व्यवस्थितिर्वस्थानं कालस्थं अर्गला तस्या नियतिर्नियमः इयमर्धविंवात्मिका वेलाव्यवस्थितिः कालमध्यमियमाय रचिता किंतु तत्पूर्वं तत्पश्चाच्च कालांतरमस्ति अर्धघटिकात्मकवाक्यांतरदर्शनादिति भावः । तथा चाहुः  
 “दिनांते सूर्यविंवार्धपूर्वं पश्चाद्वटीदलम् । कालार्गलेव वेलायां धात्रोद्वाहाय निर्मितेति ” । अत्र गोधूलिकेपि विधुमष्टमपष्टेत्यादि यदुक्तं ग्रंथकृता तत्सम्यग्बिचारपदवीं नाधिरोहति । तथाहि यदुक्तोत्र हेतुः पंचांगशुद्धिमयमेव विवाहधिष्ण्यैरित्यादिनां तत्र पृच्छते केयं पंचांगशुद्धिरिति पंचांगानि तिथ्यादीनि प्रसिद्धानि नारदवसिष्ठादिभिः पंचांगशुद्धिविरहदोषस्त्वाद्यः इत्यादिना महादोषप्रकरणेभिहितानि तेषां शुद्धिर्दोषविरहः दोषो द्विधैव प्राकृतिक आगंतुकश्चेति यस्मिन्कर्मणि यदाभिहितं न तिथ्यादिकं तस्मिन्प्राकृतिको दोषः यथा विवाहे दर्शन्यतिपातभरण्यादौ

आगंतुको ग्रहाधिजनितः यथातिथौ दग्धत्वं नक्षत्रे  
पापवेधादिकमिति । अतः पंचांगानां प्राकृतिकदोष-  
एवात्र शुद्धिः । नत्वागंतुकदोषविरहः । तस्य  
योगकरणयोरनभिधानात् । अपि च शुद्धिशब्देन  
आगंतुकदोषविरहे उच्यमाने वारदोषः “स्वार्जूरिकस-  
मांघ्रिभूमि”त्यादि नारदादिपठितेषु दोषेषु पौनरु-  
क्त्यापत्तिः । एकविंशतिपरिगणनायां असंभवश्च  
तस्मात्पंचांगानां प्राकृतिकदोषविरह एव शुद्धिरिति  
स्थितम् । अत एवविधा या पंचांगशुद्धिस्तन्मयमेव  
गोधूलिकम् । इत्युक्तं भवति । अथ यदीदृशं ब्रूषे  
पंचांगशुद्धिमयमेव विवाहधिष्ण्यैरिति वदतोयमाशयः  
विवाहविहितनक्षत्रे सति पंचांगानां ग्रहादिजनितदो-  
षाभावलक्षणा शुद्धिर्विवक्षिता तदपि न । योगक-  
रणयोस्तस्यासंभवात् । यथासंभवमिति चेत्तदपि न पं-  
चपदस्य वैयर्थ्यात् । अतः शुद्धिशब्देन प्राकृतिकदो-  
षाभावः स्वीकर्तव्यस्तर्हि पंचांगशुद्धिर्वाह्यैः सार्कं श-  
नावित्यादिन्य कुलिकार्धयामौ कथं त्यजेते वारदो-  
षादिति चेत्तत्र नारदवासिष्ठादिभिः पंचांगशुद्धिविरह-  
इत्यादिपठितदोषेषु वारदोषस्य पृथक्ग्रहणात् । तर्हि “कु-  
लिकं क्रांतिसाम्यं चे”त्यागमबलात्कुलिकार्धयामौ त्य-  
ज्येते । यद्येवंपष्टाष्टमचंद्रेण किमपराद्धं सोप्यागमबला-  
त्यज्येते । नात्र प्रमाणवचनं किमपि श्रुतमपि चेत्तद-

वं तु मेपादेरेवग्रहगणिते प्रसिद्धा तथा चोक्तं 'दिनं सुरा-  
 णामयनं यदुत्तरम्' इत्यादि । किंच प्रवृत्ति-  
 काले चांद्रदिनं वर्षादेरपि प्रवृत्तेस्तस्यादिमुख्यत्वं  
 कथन्न वक्तव्यं तस्मादनया युक्त्या चांद्रमासस्य श्रेष्ठ-  
 त्वं वक्तुमनुचितं किंतु युक्त्यंतरसंहितागमवलात् । त-  
 दुच्यते । नक्षत्रेण युक्तः कालः । "सास्मिन्पौर्णमासीतिसं-  
 ज्ञायाम्" इति च पाणिनेरनुशासनात्पौषीत्यादिसंज्ञा  
 सौरादौ नोपपद्यते । तस्माच्चांद्रमास एव मुख्यः इति  
 अत एवाह नारदोपि "यस्मिन्मासे पौर्णमासीत्येन धि-  
 ष्ण्येन संयुता । तन्नक्षत्राह्वयो मासः पौर्णमासीतदाह्व-  
 या । तत्पक्षौ शुक्लकृष्णख्यौ देवपित्र्यौ च तावुभौ"  
 इति अभिधानं च "पक्षौ पूर्वापरौ शुक्लकृष्णौ मासस्तु  
 तावुभौ" इति । अत एव सिद्धांतप्युक्तं । 'मासास्तथा  
 च तिथयस्तुहिनांशमानात्' इति । अतः सौरादौ मा-  
 सप्रयोगो गौणवृत्त्या योजनीय इत्यस्माकं सिद्धांतः  
 तर्हि "स्वेस्वैसारणमुत्तरायणमिति विवाहे सौरमासाः  
 कथमुक्ताः नापाठप्रभृतिचतुष्टये विवाह इत्यनेन चांद्र-  
 मासा ग्रंथांतरे उक्ताः ॥ १ ॥

नेष्टः पौषो मृगशुजि रवावाहृतश्चेत्प्र-  
 वीणेश्चातुश्चैत्रोप्यजसहचरे भास्करे  
 सुंदरीणां ॥ मांडव्याद्यैः स्मृतशुभफल-

स्यास्य किं नोपायमे मीनोपि स्या-  
दविकृतफलः फाल्गुनस्य प्रसंगात् ॥२॥

अनयोर्विरोधे सति सयुक्तिकं निर्णयं वक्तुं पूर्वपक्ष-  
माह । मंदाक्रांता । सुंदरीणामुपयामे विवाहे मृगयुजि  
मकरगते रवौ पौषो नेष्टः मकरगतार्कस्य शुभत्वेपि  
अशुभपौषयोगात्स नेष्ट इति भावः । ननु विपरीतं कु-  
तो न स्यादित्यत्राह । आहत इति प्रवीणैः पंडितं मन्यैः  
मृगयुजि रवौ पौषश्चेदाहतः स्वीकृतः मकरार्कस्य शुभ  
त्वात् तदा चैवोपि । अजसहचरे मेपगते भास्करे स-  
ति चारुः शुभः स्यात् । नचैवमस्ति । किंच अस्य प्र-  
सिद्धस्य फाल्गुनस्य फलमाह व्याधैः स्मृतशुभफलस्य  
प्रसंगाद्योगात् मीनो मीनगताकोपि अविकृतफलः  
किं न स्यात् । अपि तु अविकृतफल एव नविकृतं  
फलं यस्यासौ तथा यथावत्फल एवेत्यर्थः । शुभस्या-  
पि फाल्गुनस्य योगात् दुष्टोपि मीनो दुष्टफल एवेति  
भावः । न चाप्येवमस्ति एवं सौरप्राधान्यं स्वीकर्तु-  
रनिष्टद्वयम् ॥२॥

झपोननिधोयदिफाल्गुनेस्यादजस्तु  
वैशाखगतो ननिधः मध्वाश्रितैर्द्धाव-  
पिवर्जनीयावित्यादिवाचामियमेव-  
मुक्तिः ॥३॥

एवं सति सिद्धांतमाह । उपजातिका । यदि फाल्गुने झपो मीनगतार्कस्तदा न निंद्यः चांद्रस्य मुख्यत्वात् । एतत्प्रसंगेन व्रतबंधेऽपि निर्णयमाह । मेष इति मेषो मेषगतार्कस्तु यदि वैशाखगतस्तदा न निंद्यः मेषेकं च व्रतं न हीत्युत्तरे शुभस्यापि मेषस्य शुभवैशाखयोगाच्छुभत्वमिति भावः । प्रकृतमाह मध्वाश्रितेति । मध्वाश्रितौ चैत्रमासगतौ द्वौ मीनमेषगतार्कावपि वर्जनीयौ चैत्रस्य दुष्टत्वात् मीनस्तु स्वरूपत एवाशुभः मेषस्तु चैत्रयोगादिति चांद्रस्य मुख्यत्वादिति सर्वत्र हेतुः इत्यादिवाचां इत्यादि वक्षिणां युक्तिरियमेव । इत्यादिकमुक्तवतां युक्तिरियमुक्तवैत्यर्थः ॥ ३ ॥

प्रायः सौरं मानमिष्टं विवाहे तत्किंचांद्रे मासमाहुः फलेन ॥ यस्मात्सम्यक्तत्फलास्तिस्तदैक्ये सौरो मासः केवलः किंचिदूनः ॥ ४ ॥

यदि हि चांद्रे मुख्यत्वं तदा पृथक् सौरमानं कथमुक्तमित्यशङ्क्याह । शालिनी । यदि प्रायो बाहुल्येन सौरमानं विवाहे स्वीकृतं तत्तदा फलेन चांद्रमासं किमाहुः शौनकादयः । “धनमानपरिभ्रष्टा चैत्रे चावृत्तमेधुना । त्वसती ” इत्यादिना यस्मादेतौ सौरचांद्र-

मासौ विवाहे उक्तौ तस्मात्तदैक्ये तयोः सौरचांद्रमास-  
योरेकत्वे सति फलाप्तिः सम्यक् परिपूर्णा स्यात् ।  
केवलः सौरमासः चांद्रापेक्षया किञ्चिद्दूनः चांद्रस्य सु-  
ख्यत्वादित्यर्थः ॥ ४ ॥

योपितांगुरुपतंगगोचरे शोभने शुभ-  
करः करग्रहः ॥ अष्टवर्गविधिना तद-  
त्यये सूर्यशुद्धिमपरे नृणां जगुः ॥ ५ ॥

एवं सौरचांद्रयोर्वलावलमुक्त्वा गोचराष्टकवर्गयोर्व-  
लावलमाह । रथोद्धतानि । योपितां स्त्रीणां गुरुपतंगयोः  
गुरुसूर्ययोगोचरे शोभने सति गोचरविधिना गुरुवले  
रविवले च सतीत्यर्थः । करग्रहः शुभकरः स्यात् ।  
तदत्यये तस्य गोचरवलस्यात्यये अलाभे सति  
अष्टवर्गविधिना गुरुपतंगवले सति मतांतरमाह ।  
सूर्यशुद्धिमिति । अपरे नृणां पुरुषाणां सूर्यशुद्धिं  
जगुः नतु गुरुशुद्धिं गोचरविधिना तदलाभे अष्टवर्ग-  
विधिनेति उक्तंच प्राक् भानुरप्युपचयेति पुरुषाणां  
गुरुशुद्धिस्तु व्रतबंधएव अतो न विवाहे शूद्रादीनां तु  
व्रतबंधाभावाद्धिवाह एव गुरुशुद्धिः सूर्यशुद्धि-  
श्चेति ॥ ५ ॥

अष्टवर्गफलमेव जातके नास्य किं  
परिणयेपि मुख्यता ॥ सत्यमुद्रहन-

एवं सति सिद्धांतमाह । उपजातिका । यदि फाल्गुने झपो मीनगतार्कस्तदा न निंद्यः चांद्रस्य मुख्यत्वात् । एतत्प्रसंगेन व्रतबंधेऽपि निर्णयमाह । मेष इति मेषो मेषगतार्कस्तु यदि वैशाखगतस्तदा न निंद्यः मेषेकं च व्रतं न हीत्युत्तरे शुभस्यापि मेषस्य शुभवैशाखयोगाच्छुभत्वमिति भावः । प्रकृतमाह मध्वाश्रितेति । मध्वाश्रितौ चैत्रमासगतौ द्वौ मीनमेषगतार्कावपि वर्जनीयौ चैत्रस्य दुष्टत्वात् मीनस्तु स्वरूपत एवाशुभः मेषस्तु चैत्रयोगादिति चांद्रस्य मुख्यत्वादिति सर्वत्र हेतुः इत्यादिवाचा इत्यादि वक्षिणां युक्तिरियमेव । इत्यादिकमुक्तवतां युक्तिरियमुक्तैवेत्यर्थः ॥ ३ ॥

प्रायः सौरं मानमिष्टं विवाहे तत्किंचांद्रे मासमाहुः फलेन ॥ यस्मात्सम्यक्तत्फलास्तिस्तदैक्ये सौरो मासः केवलः किंचिदूनः ॥ ४ ॥

यदि हि चांद्रे मुख्यत्वं तदा पृथक् सौरमानं कथमुक्तमित्यशङ्क्याह । शालिनी । यदि प्रायो बाहुल्येन सौरमानं विवाहे स्वीकृतं तत्तदा फलेन चांद्रमासं किमाहुः शौनकादयः । “धनमानपरिभ्रष्टा चैत्रे चातृ समेधुना । त्वसती ” इत्यादिना यस्मादेतौ सौरचांद्र-



तथाहि जन्मकालेऽष्टमः क्रूरग्रहोऽशुभः विवाहे तु शुभः  
जन्मकाले सप्तमः शुभग्रहः शुभः विवाहेत्वशुभः  
अतोऽनयोः शास्त्रयोरन्यथात्वं इति हेतोरेव विवाहेऽ-  
सौ गोचरपथो गोचरमार्गः रथोद्धतः रथैरुद्धतः  
अतिघृष्टः अस्य मार्गे श्लेषः गोचरमार्गः पारंपर्या-  
गतः स्फुट इत्यर्थः रथोद्धत इति छंदसोपि नाम  
सूचितम् ॥ ७ ॥

इति विवाहवृंदावने मासगोचरवि-  
चाराध्यायो दशमः ॥ १० ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरा-  
त्मजगणेशदैवज्ञविरचितायां विवाहवृंदावनटीकायां  
विवाहदीपिकायां मासगोचरविचाराध्यायो दशमः १०

अथ ग्रहयोगाध्यायः ॥ चक्रस्यार्धे  
प्राचि पश्चात्क्रमेण कूरात्कूरैश्चक्रमि-  
त्यामनन्ति ॥ अत्रोढायाः सुभ्रुवः  
स्वैरिणीत्वे भ्राम्यत्युच्चैश्चक्रवाचित्तवृ-  
त्तिः ॥ १ ॥

अथ प्रातिस्विकं भावफलमुक्त्वा योगजमाह ।  
शालिनी । चक्रस्य प्राचि अर्धे पश्चादर्धे क्रमेण  
कूरात्कूरैः कृत्वा चक्रमितियोगमामनन्ति मुनयः एतदुक्तं

## जन्मशास्त्रयोरन्यता मुनिभिरेव स- स्मरे ॥ ६ ॥

नन्वत्र गोचरस्य कथं मुख्यत्वं तत्राह । जातके  
अष्टवर्गफलमेवास्ति तत्र यच्चंद्राशिफलं तदेव गो-  
चरफलं संहितासु पठितं अतोस्य अष्टवर्गफलस्य  
परिणयेति मुख्यता किं न स्यात् गोचरफलं ह्येक-  
स्माच्चंद्राशौरेव । अष्टवर्गफलं त्वष्टराशिभ्यः अतो  
स्याधिक्यात् परिणयेपि तत्प्राधान्यं कथं न स्यादिति ।  
भावः एतदधीगीकारेण परिहरति । सत्यं मिति  
जातके अष्टवर्गफलं मुख्यमिति मन्यामहे परिणये-  
पि मुख्यतेति न सहामह इति कथं उद्ग्रहनजन्मशा-  
स्त्रयोः विवाहशास्त्रजन्मशास्त्रयोरन्यता अन्यत्वं मुनि-  
भिरेव संस्मरे स्मृता । विवाहशास्त्रस्य जन्मशास्त्रस्य  
च भेदो मुनिभिरेव स्मृत इति ॥ ६ ॥

ऋमष्टममरिष्टमिष्टदं सप्तमं शुभमु-  
शंति जन्मनि ॥ नेयमुद्ग्रहनरीतिरि-  
त्यसावत्रगोचरपथो रथोद्धतः ॥ ७ ॥

अत्रोदाहरणमाह । जन्मानि जन्मकाले अष्टमं ऋ-  
मरिष्टमशुभमुशंति सप्तमं शुभग्रहं इष्टदं शुभप्रदमुशं-  
ति कांशंति मुनयः इयमुद्ग्रहनरीतिर्विवाहमार्गं न भवति ।

भूता इंगितैः स्वचेष्टितैः हावभावादिभिः प्रियमनो-  
यमनोन्मुखविभ्रमा प्रियस्य भर्तुर्मनः प्रियमनः  
तस्य यमनमाकर्षणं तत्रोन्मुखः विभ्रमो विलासो  
यस्याः सा तथा "विभ्रमो भ्रांतिहावयो" इति विश्वः ॥ २ ॥

अखिलकेंद्रसखैः खलखेचरैर्भवति  
वापिरिहार्पितपुंस्करा ॥ युवतिरु-  
ज्झितकांतगृहा गृहे जनयितुः कुरुते  
कुरुतोत्सवान् ॥ ३ ॥

अखिलानि च तानि केंद्राणि च तेषां सखायस्ते तथा  
टच् । चतुर्ष्वपि केंद्रेषु गतैः खलखेचरैः पापग्रहैः वा-  
पिर्नाम योगो भवति । इहास्मिन्योगे अर्पितपुंस्करा  
अर्पितो दत्तः पुंसे वराय करो यया सा परिणीतेत्यर्थः  
युवतिः स्त्री उज्झितकांतगृहा सती उज्झितं त्यक्तं कां-  
तगृहं भर्तृगृहं यया सा तथा जनयितुः पितृगृहे  
कुरुतोत्सवान् कुरुते कुत्सितानि रुतानि कुरुतानि कुश-  
ब्दाः तेषामुत्सवा आनंदाः ॥ ३ ॥

गगनतोयतपस्सु शुभैर्भृगुर्गदतिशं-  
खमशं स्वलयत्यसौ ॥ धनयशोनय-  
शोभितनुश्रियां परिणयेन पयोरुह-  
चक्षुषाम् ॥ ४ ॥

भवति दशमभावभागानारभ्य चतुर्थभावभागपर्यंतं  
चक्रस्य पूर्वार्द्धे चतुर्थभावभागानारभ्य दशमभावभा-  
गपर्यंतं पश्चिमार्द्धे तत्र चक्रस्य पूर्वार्द्धे यदाकूरा ग्रहाः  
पश्चिमार्द्धे सौम्यास्तदा चक्रं नाम योगः स्यादिति अस्य  
फलमाह। अत्रेति। अत्र योगे ऊढायाः परिणीतायाः सु-  
भ्रुवः सुष्ठु भ्रुवो यस्याः सा सुभ्रूः तस्या योपितश्चित्तवृत्तिः  
मनोवृत्तिः स्वैरिणीत्वे पौंश्चल्यविषये चक्रवदुच्चैर्भ्राम्य-  
ति “चतुर्थे स्वैरिणी प्रोक्ता पंचमे बंधकी स्मृत”-  
इति स्मृतिः । चतुर्थे चतुर्थपुरुषोपभोगे पौंश्चल्यविषये  
तस्या मनोवृत्तिरतितरां चक्रवद्धमतीत्यर्थः अयं सर्व-  
ग्रहकृतो योगः ॥ १ ॥

तनुनिमीलनगैश्च शुभाशुभैर्ध्वज इ-  
तीह कृतोद्ग्रहना वधूः ॥ सगुणलाभ-  
वती भवती गितैः प्रियमनोयमनो-  
न्मुखविभ्रमा ॥ २ ॥

द्रुतविलंबितानि । तनुर्लग्नं निमीलममष्टमं तत्र  
गतैः क्रमेण शुभाशुभैः लग्नस्थैः शुभैरष्टमस्थैः पाप-  
ग्रहैरित्यर्थः अयं ध्वज इति योगः इहास्मिन्योगे  
कृतोद्ग्रहना वधूः सगुणलाभवती भवति कृतमुद्ग्रहनं  
यस्याः सा तथा गुणैः सहवर्तमानः सगुणः सचासौ  
लाभश्च सोस्यास्तीति सगुणलाभवती पुनः कथं-

भूता इंगितैः स्वचेष्टितैः हावभावादिभिः प्रियमनो-  
यमनोन्मुखविभ्रमा प्रियस्य भर्तुर्मनः प्रियमनः  
तस्य यमनमाकर्षणं तत्रोन्मुखः विभ्रमो विलासो  
यस्याः सा तथा “विभ्रमो भ्रांतिहावयो” इति विश्वः ॥ २ ॥

अखिलकेंद्रसखैः खलखेचरैर्भवति  
वापिरिहार्पितपुंस्करा ॥ युवतिरु-  
ज्झितकांतगृहा गृहे जनयितुः कुरुते  
कुरुतोत्सवान् ॥ ३ ॥

अखिलानि च तानि केंद्राणि च तेषां सखायस्ते तथा  
टच् । चतुर्ष्वपि केंद्रेषु गतैः खलखेचरैः पापग्रहैः वा-  
पिर्नाम योगो भवति । इहास्मिन्योगे अर्पितपुंस्करा  
अर्पितो दत्तः पुंसे वराय करो यया सा परिणीतेत्यर्थः  
युवतिः स्त्री उज्झितकांतगृहा सती उज्झितं त्यक्तं कां-  
तगृहं भर्तृगृहं यया सा तथा जनयितुः पितुर्गृहे  
कुरुतोत्सवान् कुरुते कुत्सितानि रुतानि कुरुतानि कुश-  
ब्दाः तेषामुत्सवा आनंदाः ॥ ३ ॥

गगनतोयतपस्सु शुभैर्भृगुर्गदतिशं-  
खमशं स्खलयत्यसौ ॥ धनयशोनय-  
शोभितनुश्रियां परिणयेन पयोरुह-  
चक्षुषाम् ॥ ४ ॥

गगनं दशमं तोयं चतुर्थं तपो नवमं तेषु यथातथं  
स्थितैः शुभग्रहैः शंखसंज्ञं योगं भृगुमुनिर्गदति । असौ  
योगः अशमसुखं स्वलयाति प्रतिवध्नाति निराकरोती-  
त्यर्थः । केन परिणयेन कासां पयोरुहचक्षुषां  
पयोरुहं कमलं तद्वच्चक्षुर्यासां तास्तथा तासां स्त्रीणां  
कथंभूतानां धनयशोनयशोभिततनुश्रियां धनं च  
यशश्च नयश्च तैः शोभते सा धनयशोनयशोभिनी  
तनोर्वपुषः श्री कांतिः तनुश्रीधनादिशोभिनी तनुः  
श्रीर्यासां तास्तथा ॥ ४ ॥

एकादशे कुजरवीरविजःसपत्ने वित्ते  
विधुस्तपसि शेषनभश्चराश्चेत् ॥  
श्रीवत्स एष सुखयत्यपि रूपरिक्तां  
सौभाग्यभोगभरभृंगितरंगितांगीम् ५॥

वसंततिलका । एकादशे कुजरवी सपत्ने शत्रौ  
पष्टे रविजः शनिः वित्ते धने विधुः तपसि नवमे शेषन-  
भश्चराः कुजरविशनिचंद्रव्यतिरिक्ताश्चेत्स्त्र्युः तदा श्री-  
वत्सो नाम योगः एष योगः रूपेण रिक्ता रूपरिक्ता  
सौंदर्यहीना तामपि स्त्रियं सुखयति । कथंभूता । सौ-  
भाग्येति । सौभाग्यस्य भोगः तस्य भरो भारः तस्य भं-  
गी रचना तथा तरंगितानि तरंगाः जाताः येषु तानि  
तरंगितानि तानि अंगानि यस्याः सा तथा ॥ ५ ॥

सौम्या मूर्तौ स्वांतराशयोरसौम्याः  
कुर्युर्योगं कार्मुकं कन्यकास्मिन् ॥ ह-  
त्वा कांतं कांतवेपा विपाद्यैर्वेश्यारा-  
मं रंरमीति स्वरत्या ॥ ६ ॥

शालिनी । मूर्तौ लभे सौम्याः स्वांत्यराशयोद्विती-  
यद्वादशयोर्यथा तथा असौम्याः पापाः कार्मुकं नाम  
योगं कुर्युः । अस्मिन्योगे परिणीता कन्यका कांतवे-  
पा सती वेश्यारामं रंरमीति अतिशयेन रमत इति  
रंरमीति । यदो लुक् । वेश्याः रमयतीति वेश्यारामः वे-  
श्योपभोगी तमप्येपा अतिशयेन रमयतीति कया  
स्वरत्या निजोपभोगकौशलेन किं कृत्वा विपाद्यैः  
विपशस्त्राद्वंधनादिभिः कांतं भर्तारं कृत्वा ॥ ६ ॥

सूनौ शुक्रः सांगिरा गौररश्मिर्दुश्चि-  
क्चेस्यादंगनाभ्युद्गमश्चेत् ॥ आनं-  
दोयं सुंदरीसांद्रसौख्या तेनानंदवं-  
शयोर्विस्तृणाति ॥ ७ ॥

सूनौ पंचमे शुक्रः दुश्चिक्चे तृतीये सांगिराः सगु-  
रुः गौररश्मिश्चंद्रस्तदांगनाभ्युद्गमश्चेत्स्यादंगनाया  
अभ्युद्गमोभ्युदयः विवाह इति यावत् । यद्वा अंगना-  
भ्युद्गमः कन्यालग्नं तदायं आनंदो नाम योगस्तेन यो-

गेन सुंदरी सांद्रसौख्या सांद्रं निविडं सौख्यं यस्याः  
सा तथा वंशयोः पितृभर्तृवंशयोरानंदं विस्तृणाति वि-  
स्तारयातिणिजंतर्भावः ॥ ७ ॥

व्ययरिपुहिबुकेषु वक्रशुक्रद्युमणि-  
सुतैः क्रमशः कुठार एषः॥इह विहर-  
ति संहतस्ववंशा विटपतले पटलेखि-  
ताभिसारा ॥ ८ ॥

पुष्पिताग्राणि । व्ययो द्वादशं रिपुः पटं हिबुकं  
चतुर्थं एषु वक्रो भौमः शुक्रः प्रसिद्धः द्युमणिसुतः श-  
निः एभिः क्रमशः स्थितैः एषः कुठारो नाम योगः  
स्यात् । इहास्मिन्कुठारे योगे परिणीता विटपतले भं-  
डसमूहे विहरति क्रीडते । कथंभूता संहतो मारितः  
स्ववंशो यथा सा तथा पटे वस्त्रांचले लेखितः अभि-  
सारो यस्याः सा तथा असंशयमभिसारिणीत्यर्थः । नरं  
भोगार्थिनी याति “ संकेतं साभिसारिकेति ” अभि-  
धानात् । यद्वा । अभिचारेति पाठः । अभिचारो  
व्यभिचारो तत्पाठे व्यभिचारिणीत्यर्थः ॥ ८ ॥

रविकविरविजेंदुभिः क्रमेण व्ययध-  
न पणिधनेषु कूर्म एषः॥इहविहितक-  
ग्रहा गृहाणि भ्रमति भुजिष्यतया  
परः शतानि ॥ ९ ॥



रविः सूर्यः कविः शुक्रः रविजः शनिर्दिदुश्चंद्रः एभि-  
 ग्रहैर्व्ययो द्वादशं धनं द्वितीयं पट् पट्टं निधनमष्टमं एषु  
 यथाक्रमं स्थितैः एषः कूर्मो नाम योगः। इहास्मिन्योगे  
 विहितः कृतः करग्रहो यस्याः सा तथा परःशतानि  
 गृहाणि भ्रमति । शतेभ्यः पराणि परःशतानि पारस्क-  
 रादित्वात्सुट् । यद्वा । परः शब्दो निपात इति भोज-  
 राजः शतेभ्योधिकानीत्यर्थः । कया हेतुभूतया  
 भुजिष्यतया दोषत्वेन भुजिष्याया भावो भुजिष्यता  
 'त्वतलोर्गुणवचनस्य' इति 'पुंवद्भावः' 'नियोज्यकिं-  
 रप्रेष्यभुजिष्यपरिचारके' इत्यमरः ॥ ९ ॥

भवपरिभवविक्रमैः क्रमेण द्युमणि-  
 महीसुतसौरिभिः सनाथैः ॥ परि-  
 णमतिदलेंदुरिंदुमुख्याः कुलयुग-  
 लोद्धतिधुर्यतां विधास्यन् ॥ १० ॥

भवः एकादशं परिभवः पट्टं विक्रमस्तृतीयं एभिः  
 स्थानैः द्युमणिः सूर्यः महीसुतो भौमः सूर्यस्यापत्यं  
 सौरिः शनिः तैर्यथाक्रमं सनाथैर्युक्तैः कृत्वा दलेंदुरर्ध-  
 चंद्रो नाम योगः परिणमति परिपाकं प्राप्नोति किं  
 करिष्यन् इंदुमुख्याश्चंद्रवदनायाः स्त्रियः कुलयुगलो-  
 द्धतिधुर्यतां विधास्यन् करिष्यन् कुलयुगलं पितृकुलं

भर्तृकुलं चेति तस्योद्धृतिरुद्धरणं धुरं वहतीत्यर्थः।  
औपच्छंदसिकम् ॥ १० ॥

व्ययनिधनतनूषु मंदचंद्रारुणकिर-  
णैर्मुसलं जगुर्मुनीन्द्राः ॥ इह वृष्णिकु-  
लांतके कुमारी कुलमारी नच कापि  
कार्यसिद्धिः ॥ ११ ॥

व्ययो द्वादशं निधनमष्टमं तनूर्लघुं 'स्त्रियां मूर्ति-  
स्तनुस्तनूः' इत्यमरः। तेषु यथाक्रमं मंदः शनिः चंद्रः  
प्रसिद्धः अरुणकिरणः सूर्यः तैः स्थितैः कृत्वा मुसलं  
नाम योगं मुनीन्द्रा जगुः। इहास्मिन्वृष्णिकुलांतके  
योगे वृष्णयो यादवाः तेषां कुलं तस्यांतकं संहारकं  
मुसलमित्यर्थः। क्रीडाद्विर्यादवैः सांवजठरे यद्रेष्टितं  
मुसलं तेन मुसलेन यादवा विनष्टा इति भागवतादौ  
प्रसिद्धेः। अस्मिन्मुसले योगे कुमारी कुलमारी  
कुलनाशिनी भवति नच कापि कार्यसिद्धिर्भवति  
केवलकुलनाशिन्येवेत्यर्थः ॥ ११ ॥

तनुनवभवगैः क्रमेण योगो बुधविवु-  
धार्चितपंगुभिर्गजः स्यात् ॥ इह युव-  
तिरहंकृता कृतार्थान् वितरति दैवत-  
दैवतत्परा वा ॥ १२ ॥

पुष्पिताग्रं । तनुर्लघुं नव नवमं भव एकादशं तेषु गतैः  
यथाक्रमं बुधः प्रसिद्धः विबुधार्चितो गुरुः पंगुःश-  
निः एभिः कृत्वा गजो नाम योगः स्यात् । इहास्मि-  
न्योगे युवतिः स्त्री अहंकृताऽहंकारं प्राप्ता सती कृता  
निष्पादिताश्च ते अर्थाश्च तान्वितरति ददातिवा इत्य-  
थवा युवतिः दैवतदैवतत्परा स्यात् दैवतानि च दैवं  
च दैवतदैवानि तेषु तत्परा देवार्चनरता भाग्यरता चे-  
त्यर्थः । भाग्यवतीति यावत् ॥ १२ ॥

इति विवाहवृंदावने ग्रहयोगाध्याय-

एकादशः ॥ ११ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवदैवज्ञमुतगणे-  
शविरचितायां विवाहवृंदावनटीकायां विवाहदीपिका-  
यां ग्रहयोगाध्यायो एकादशः ॥ ११ ॥

अथ ग्रहाणां भावकुंडलिकाध्यायः॥

चिरंजीवान् जीवः कविरविरलानंग-  
सुभगां शंशाकोर्वीपुत्रौ यमयुवति-  
पार्श्वप्रणयिनीम्॥बुधो भतुर्भक्तांमृग-  
दृशमशीलां शनिरपि त्रयीमूर्तिर्मूर्तीं  
सृजति शिखिशस्त्रादिनिधनम् ॥ १ ॥

पूर्वमरिपराक्रमेत्यादिना साधारण्येन ग्रहफलान्यु-

कानि अधुना प्रतिस्थानं तानि सविशेषाण्याहातत्रा-  
दौ लग्नस्थग्रहाणां फलानि शिखरिणी।मूर्तीं लग्ने स्थि-  
तो जीवः मृगदृशं स्त्रियं चिरंजीवां सृजति चिरंजीवती-  
ति चिरंजीवा चिरमित्यव्ययं ।विभक्तिप्रतिरूपकं।कविः  
शुक्रः अविरलानंगसुभगां सृजति अविरलो निविडश्चा-  
सौ अनंगश्च अनंगो मदनः तेन सुभगा सौभाग्यवती  
शशांकश्चंद्रः उर्वीपुत्रो भौमस्तौ यमयुवतिपार्श्वप्रणयि-  
नीं सृजतः यमस्य युवतिः तस्याः पार्श्वे सामीप्यं तत्र  
प्रणयः प्रीतिरस्ति अस्याः सा तथा तां यमलोककांक्षि-  
णीमित्यर्थः। बुधो भर्तुः भक्तां सृजति शनिरपि अशी-  
लां दुष्टशीलां त्रयीमूर्तिः सूर्यः शिखिः अग्निः शस्त्रं प्र-  
सिद्धं ते आदिर्येषां तानि शिखिशस्त्रादीनि तेभ्योनि-  
धनं यस्याः सा तथा तं ॥ १ ॥

नितांतधननीं धने सितसितांशुजी-  
वेदुजा रुजादहनदस्युभिर्विधुरितां  
धरानंदनः ॥ सुतेष्वपि मितंपचां म-  
लिनमूर्तिमर्कात्मजः स्त्रियं सहजदु-  
र्भगां जनयति दुतीनां पतिः ॥ २ ॥

अथ धनभावस्य पृथ्वीवृत्तं। धनेद्वितीयभावे स्थिताः  
सितसितांशुजीवेदुजाः नितांतं धनिनीं जनयन्ति । सि-  
तः शुक्रः सितांशुश्चंद्रः ॥ जीवो गुरुः इंदुजो बुधः नितां-

तं धनं तदस्त्यस्याः सा तथा धरानंदनो भौमः रुजा-  
 दहनदस्युभिर्विधुरतां जनयति रुजा रोगः ' आपंचैव  
 हलंतानाम्' इति टाप् । दहनोग्निर्दस्यवश्चोराः सर्पादयो  
 वा विधुरा वियुक्ता भर्तृहीना तस्या भावो विधुरता-  
 वैधव्यं पुंस्त्वं पूर्ववत् अर्कात्मजः शनिः सुतेषु पुत्रेष्व-  
 पि विषये मितंपचां मलिनमूर्तिजनयति मितंपचतीति  
 मितंपचा कृपणा " मितनखेच" इति खशूखित्वान्मु-  
 म् । मलिना मूर्तिर्यस्याः सा तथा द्युतीनां पतिः सूर्यः  
 सहजदुर्भगां जनयति सह जातं सहजं स्वाभाविकं तनु-  
 दुर्भगमदैवं यस्याः सा तथा यद्वा सहजे सोदरविषये  
 दुर्भगो यस्याः सा तथा ॥ २ ॥

इनशनीसहजे सधनां वधूं तनुधनी-  
 सचिवः सुभगां शशी ॥ सुकृतिनीं कुरुतः  
 कुजसोमजौ नयति देवारि देवारिपू-  
 पनीः ॥ ३ ॥

अथ तृतीयस्य द्रुतविलंबितम् सहजे तृतीयभावे  
 इनशनीरविशनी वधूं सधनां धनसहितां कुरुतः सचिवः  
 शक्रसचिवो बृहस्पतिः तनुधनां करोति तनु कृशं  
 धनं यस्याः सा तथा शशी चंद्रः सुभगां सुष्ठु भगो  
 भाग्यं यस्याः सा तथा कुजसोमजौ भौमबुधौ सुकृति-  
 नीं कुरुतः सुकृतं पुण्यं तदस्त्यस्याः सा तथा देवारिपू-

पनीः शुक्रः देवारि देवरे नयति प्रापयति देवरगामि-  
नीत्यर्थः । देवानां रिषवो दैत्याः तानुपनयतेसौ दे-  
हारिपूपनीः दैत्यगुरुः । देवृ इति ऋकारांतः “समौ तु  
देवृदेवरौ” इत्यभिधानात् ॥ ३ ॥

दारिद्र्यं रविरवनीसुतो वरांगव्याधा-  
तं गुरुभृगुजेंदुजाः प्रभुत्वं॥बाल्येब्जः  
प्रियवियुतिशनिस्तनांभःशून्यत्वंसृ  
जति सुखेसुवासिनीनाम् ॥ ४ ॥

अथ चतुर्थस्य प्रहर्षिणी । सुखे चतुर्थभावे रविः दारि-  
द्र्यं सृजति अवनीसुतो भौमः वरांगव्याधातं वरांगं भगं  
तस्य व्याधातो भंगः गुरुभृगुजेंदुजाः प्रभुत्वं सृजंति  
गुरुर्वृहस्पतिः भृगुजः शुक्रः इंद्रजो बुधः प्रभुत्वं स्वा-  
मित्वम् अब्जश्चंद्रमाः बाल्ये बालत्वे प्रियवियुतिं  
भर्तृवियोगं शनिः स्तनांभःशून्यत्वं स्तनयोरं-  
भः स्तनांभः स्तन्यदुग्धं तस्य शून्यत्वं अभावं सृज-  
ति कासां सुवासिनीनां प्रौढांगनानां ‘चिरंटी तु सुवा-  
सिनी’ इत्यमरः ॥ ४ ॥

सत्पुत्रामसुरसुरेज्यसोमपुत्राः पुत्रा-  
रिरविरसुतप्रजाद्विजेंद्रः ॥ शोकार्ता-  
मवनीसुतः सुतस्थएनिः संताने  
सततरुजं सृजेत्कुमारी ॥ ५ ॥

अथ पंचमस्य प्रहर्षिणी। असुराश्चसु राश्च असुरसु-  
 राः तेषामिज्यौ शुक्रगुरू सोमपुत्रो बुधः एतेषु तत्स्थाः  
 पंचमभावस्थिताः कुमारीं सत्पुत्रां सृजेयुः कुर्युः रविः  
 पुत्रारिं सृजेत् पुत्राणामरिः १३घातिनी द्विजेन्द्रश्चंद्रः  
 असुतप्रजां सुतेभ्योन्या असुता सा प्रजा अस्याः सा  
 तथा कन्याप्रसूः अवनिसुतो भौमः शोकार्ता शोकेन  
 आर्तापीडिताम् ऐनिः इनस्यापत्य मौनिः संताने संत-  
 तिविषये सततं नित्यं रुक् रोगो यस्याः सा तथा तां  
 सृजेत् ॥ ५ ॥

विधुर्निधनमिंदुजः परभयं जयं भा-  
 नुमान्कुजः कुशलकर्मभूविगतवैरतां  
 वैरिगः ॥ रिपुत्वमुशनासहं सहचरेण  
 चारुभ्रुवां व्यनक्ति वचसां पतिः प-  
 तिमजातशत्रुश्रुतिम् ॥ ६ ॥

अथ षष्ठे पृथ्वीवृत्तम्। वैरिगः षष्ठभावगः विधुः चारु-  
 भ्रुवां चारवो भ्रुवो यासां ताः तासां स्त्रीणां निधने व्यन-  
 क्ति प्रकटयति ददातीत्यर्थः । इंदुजो बुधः परभयं  
 शत्रुभयं भानुमान् भानवो रश्मयः संत्यस्यासौ तथा  
 सूर्यः जयं कुजो भौमः कुशलं क्षेम अर्काद्भवतीत्यर्कभूः  
 शनिर्विगतवैरतां विगतं वैरं यस्याः सा विगतवैरा तस्या  
 भावो विगतवैरता प्राग्वत्पुंस्त्वं उशना शुक्रः सहचरे-

ण भर्ता समं सार्द्धं रिपुत्वं शत्रुत्वं सहचरतीति सहचराः  
वचसां पतिर्वृहस्पतिः भर्तारमजातशत्रुश्रुतिन्यन-  
स्ति शत्रूणां श्रुतिःश्रवणमजाता शत्रुश्रुतिर्यस्यासौ  
तथा शत्रुरिति श्रवणमपि नास्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

बुधोवंध्यामिन्दुः परिचितसपत्नीपरि-  
भवां गलद्गर्भा पंगुः परनररतां दान-  
वगुरुः ॥ अवीरामस्तेर्को गुरुरपरसे-  
वाव्यसनिनीं विवाहे माहेयः स्त्रिय-  
मतिरजस्कां जनयति ॥ ७ ॥

अथ सप्तमे शिखरिणी । विवाहे विवाहकाले अ-  
स्ते सप्तमभावे स्थितो बुधः स्त्रियं वंध्यां जनयति इन्दु-  
श्चन्द्रः परिचितसपत्नीपरिभवां सपत्न्याः संवंधी परिभवः  
पराभवः सपत्नीपरिभवः परिचितः परिवृद्धः सपत्नीप-  
रिभवो यस्याः सा तथा पंगुः शनिः गलद्गर्भा गलंत-  
श्च्यवंतः गर्भा यस्याः सा तथा दानवगुरुः शुक्रः प-  
रनररतां परपुरुषगामिनी अर्कः सूर्यः अवीरां नास्ति  
वीरो भर्ता यस्याः सा तथा गुरुः अमरसेवाव्यस-  
निनीम् अमरसेवायां व्यसनं विद्यते यस्याः सा त-  
था माहेयो भौमः अतिरजस्कां जनयति अतिश-  
यितं रजो यस्याः सा तथा प्रदरव्याधियुक्तामि-  
त्यर्थः ॥ ७ ॥



सितसितकिरणेज्यामृत्युवे मृत्युवे-  
श्मन्यनवरतसुखायुःसंपदे सूर्यसौ-  
री ॥ भवति पतिशरीरद्रोहकृद्रौहि-  
णेयो द्रुहिणगृहमुखीनां यक्ष्मणे क्षो-  
णिजन्मा ॥ ८ ॥

अथाष्टमे मालिनी । मृत्युवेश्मनि अष्टमभावे सि-  
तसितकिरणेज्याद्रुहिणगृहमुखीनां स्त्रीणां मरणा-  
य भवन्ति । सितः शुक्रः सितकिरणश्चन्द्रः ईज्यो गुरुः  
द्रुहिणो ब्रह्मा तस्य गृहं पद्मं तद्वन्मुखं यासां तास्त-  
था सूर्यसौरी रविशनी अनवरतसुखायुःसंपदे भ-  
वतः सुखं च आयुश्च संपन्न सुखायुःसंपत् द्वैकत्वं  
क्रीवत्वं च अनवरतमखंडितं च तत्सुखायुःसंपत्त-  
स्मै रोहिण्या अपत्यं रौहिणेयो बुधः पतिशरीरद्रो-  
हकृत् स्यात् पत्युःशरीरं तस्य द्रोहः अपघातः तं  
करोतीति तथा क्षोणिजन्मा भौमः यक्ष्मणे व्याधये  
भवेत् ॥ ८ ॥

शशिसुतगुरुशुक्राः सांद्रसौभाग्यली-  
लां सरलहसितकांतस्वांतकेलिं कु-  
मारी ॥ रविरविसुतवक्राः कैतवाक्रां-

तशीलां तपसि तुहिनरश्मिः स्त्रीस-  
वित्रीं करोति ॥ ९ ॥

८ अथ नवमे मालिनी । तपसि नवमभावे शशिसुत-  
गुरुशुक्राः कुमारीं सांद्रसौभाग्यलीलां सरलहसितां  
कांतस्वांतकेलिं कुर्वति ॥ शशिसुतो बुधः गुरुशुक्रौ प्र-  
सिद्धौ सांद्रं निविडं च तत्सौभाग्यं च तस्य लीला य-  
स्याः सा तथा सरलम् ऋजु तच्च तद्धसितं च तथा  
कांतस्य भर्तुः स्वांतं मनःकांतस्वांतं सरलहसितेन का-  
तस्वांते केलिः क्रीडा यस्याः संबन्धेन सा तथा रविरवि-  
सुतवक्राः कैतवाक्रांतशीलां कुर्वति । रविः सूर्यः रवि-  
सुतः शनिः वक्रो भोमः कैतवं कपटं तेन आक्रांतं  
युक्तं शीलं यस्याः सा तथा तुहिनरश्मिश्चंद्रः स्त्रीसवि-  
त्रीं करोति सूते सा सवित्री स्त्रीणां सवित्री कन्याप्र-  
सूः ॥ ९ ॥

शनिरनियमशौचां कन्यकामन्य-  
कार्ये विधुरतिविधुरांगीं शाकिनीं  
व्योम्नि वक्रः ॥ रचयति रविरुग्रां  
कोविदः कर्मणज्ञामविकृतसुकृतश्रीं  
मालिनीमार्यशुक्रौ ॥ १० ॥

अथ दशमे मालिनी । व्योम्नि दशमभावे शनिः

कन्यकामनियमशौचां रचयति करोति नियमेन र-  
हितं शौचं यस्याः सा तथा शुचित्वहीनामित्यर्थः ।  
विधुश्चन्द्रः अन्यकार्यैः परकर्मभिः अतिविधुरांगीं रच-  
यति अतिशयितं विधुराणि विकलानि अंगानि य-  
स्याः सा तथा वक्रो भौमः शाकिनीडाकिनीक्षुद्रदेव-  
ताविशेषः शाकिनीव शाकिनी मांसभाक्षिके-  
त्यर्थः । रविः सूर्य उग्रामशीलां कोविदो बुधः कर्म-  
णज्ञां कर्मणं क्षुद्रकर्मविशेषः तज्जानातीति तथा । आ-  
र्यशुक्रौ गुरुशुक्रौ अविकृतसुकृतश्रीमालिनीं  
रचयतः सुकृतं च श्रीश्च सुकृतश्रियौ पुण्यलक्ष्म्यौ  
अविकृते पूर्णे च ते सुकृतश्रियौ च ताभ्यां माल-  
ते शोभते सा तथा अत्र मालिनीति छंदसोपि नाम  
सूचितम् ॥ १० ॥

एकादशे दशशतांशुमुखाः मुखानि  
रत्नांवरद्रविणभागभरोन्मुखानि ॥  
पाणिग्रहे ददति दीर्घदृशां ग्रहेन्द्राः स-  
र्वेऽपिसर्वभवनेष्ववला न किञ्चित् ॥ ११ ॥

वसंततिलकादीर्घादृग्लोचनं यासां तास्तासां स्त्रीणां  
पाणिग्रहे एकादशे स्थाने दशशतांशुमुखाः दश श-  
तानि अंशवः किरणा यस्यासौ तथा सन्मुखमादिर्ये-

णेशविरचितायां विवाहवृन्दावनटीकायां विवाहदीपिका  
यां ग्रहाणां भावकुण्डलिकाध्यायो द्वादशः ॥ १२ ॥

अथ ग्रहयोगादिवलावलाध्यायः ॥

पट्ट्यायेष्वशुभाः शुभायनिधनं द्यू-  
नांत्यवर्जं परे त्र्यायार्थेषु शशी मृतौ  
शनिरवी भंगाय तत्रापरे ॥ क्रूरद्यू-  
नवृतान्विते शशितनू अस्ते सितज्ञौ  
विधुर्लग्ने सोमसिताधिपाद्विपिसितः  
सेंदुर्विनष्टोऽशपः ॥ १ ॥

अथोक्तभावफलानां व्यवहारार्थमुपसंहारादिकं त-  
थान्यदपि शुभाशुभयोगादिकं वलादिकं च निरूप-  
यन् ग्रहवलाध्यायमारभते । तत्रादौ भावफलोपसंहारा-  
दिशार्दूलविक्रीडितं पट्टपट्टं त्रयस्तृतीयमाय एकादश  
मेष्वशुभाः पापग्रहाः शुभाय भवन्ति शेषेष्वशुभाय  
निधनमष्टमं द्यूनां सप्तममंत्यं द्वादशमेतानि वर्जयि-  
त्वान्येषु नवसु स्थानेषु परे सौम्यग्रहा बुधगुरुशु-  
क्राः शुभाय भवन्ति । शेषेषु निधनद्यूनांत्येषु अशु-  
भाय शशी चंद्रः त्र्यायार्थेषु तृतीयेकादशद्वितीयेषु  
शुभाय भवेत् । शेषेष्वशुभाय तत्राष्टमे सर्वेषां वि-  
शेषमाह । मृताविति मृतौ अष्टमे शनिरवी शुभाय

भवतः नत्वशुभाय अत्ररवेरुपलक्षणाद्राहुरप्यष्टमे  
 शुभः तत्स्वरूपांतरंकेतुश्चराहुफलस्यरवेरतिदेशोक्तेः  
 तत्राप्यष्टमे स्थाने परेन्ये चंद्रभौमबुधगुरुशुक्रा भंगाय,  
 भवंति लग्नभंगकर्तारइत्यर्थः । अन्यानपिलग्नभंगाना-  
 ह क्रूरघूनेति शशितनू क्रूरघूनवृत्तान्विते भंगाय भवतः  
 घूनं वृत्तमावृतं ययोस्ते घूनवृत्ते च अन्विते च घूनवृ-  
 त्तान्विते क्रूरेण घूनवृत्ता अन्विते ते तथा चंद्रस्य लग्न-  
 स्य वा सप्तमक्रूराक्रांतं भवेत् यद्वा चंद्रो लग्नं वा क्रूरा-  
 न्वितं भवेत् । तदा लग्नभंगः स्यादित्यर्थः । अस्ते सप्तमे ल-  
 ग्नाच्चंद्राद्वा सितज्ञौ शुक्रबुधौ वासोपि भंगाय लग्ने विधु-  
 श्चंद्रः भंगायद्विपि पष्टे सोमासिताधिपाः भंगाय स्युः सोम-  
 श्चंद्रः सितः शुक्रः अधिपाः स्वामिनः लग्नांशद्रेष्काणा-  
 नाम् अत्र पष्टं लग्नादेव नतु चंद्रात् सोमग्रहणात् सितः  
 शुक्रः सेंदुः सचंद्रः भंगाय शुक्रयुक्तश्चंद्र इत्यर्थः । अं-  
 शपो नवांशाधीशो विनष्टोस्तंगतो भंगाय स्यात् ॥ १ ॥

अतूर्यकायकेंद्रगः सुहृत्स्वसौम्य-  
 वर्गयुक्सुहृच्छुभेक्षितः शुभः शशीम-  
 यूखमांसलः ॥ २ ॥

अथ सप्तमदशमचंद्रस्य विशेषमाह प्रमाणिकातु-  
 र्यचतुर्थकायोलग्नं ताभ्यामन्यानि अतूर्यकायानितानि  
 च तानि केंद्राणि च तत्र गतः सप्तमदशमग इत्यर्थः । श-

शी शुभः स्यात् कथंभूतःसुहृदित्यादि सुहृच्चस्वश्चसौ-  
म्यश्च तेषां वर्गःतेन युनक्तीति तथा सुहृद्वर्गःस्ववर्गः  
सौम्यवर्गगावित्यर्थः सुहृच्चशुभश्चताभ्यामीक्षितः सुहृ-  
दृष्टः शुभदृष्टश्चेति बहुमांसमस्त्यस्यासौ मांसलः "सि-  
ध्मादिभ्यश्च" इति मत्वर्थीयो लः। मयूखैः किरणैर्मांसलः  
रश्मिभिः पुष्टइत्यर्थः सप्तमदशमोपि चंद्र एवंविधः शु-  
भः स्यादितिभावः। अत्रापि ' अकायकोणकेंद्रेति ' पा-  
ठः । तत्र अकायकोणकेंद्राणि चतुर्थसप्तमदशमनवम-  
पंचमानि । तथाच शौनकः " त्रिकोणसप्तमांवरव्ययो-  
पगो विलग्नतो हिमद्युतिः शुभर्क्षगः शुभेक्षितश्च शो-  
भनः " इति । अयंव्ययस्थोपिगृहीतः सतु नारदेन  
महादोषेषु पठितो अतोसौ ग्रंथकृता त्यक्तः ॥ २ ॥

शशितनयसिताभ्यांनंदभद्राबुभा-  
भ्यां जय इति तनुयाते जीव इत्येप  
जीवे । असुरसुरगुरुभ्यां स्थावरो ज्ञे-  
ज्यशुक्रैर्विजय इति विशुक्रं तं च जी-  
मृतमाहुः ॥ ३ ॥

अथशुभयोगानाह । मालिनी । तनुयात इति प्रत्येकं  
संवध्यते । शशितनयो बुधः सितः शुक्रस्ताभ्याम-  
जुगताभ्यां क्रमेण नंदभद्रौ योगौ स्तः । बुधेन लग्न-

तेन नन्दः शुकेण भद्र इति उभाभ्यां बुधशुक्राभ्यां लग्न-  
गताभ्यां जय इति योगः जीवे गुरौ तनुयाते जीव इति  
योगः असुरसुराणां गुरु शुक्रगुरु ताभ्यां तनुयाता-  
भ्यां स्थावर इति योगः ज्ञेयशुक्रैर्बुधगुरुशकै-  
स्तनुयातैर्विजय इति योगः तमेवयोगं विशुक्रं शुक्र-  
वर्जितं बुधगुरुभ्यां लग्नगताभ्यामित्यर्थः जीमूतं नाम  
योगमाहुर्मुनयः ॥ ३ ॥

इतिशुभफलयोगाः सप्तसप्तर्षिमुख्यै-  
र्मुनिभिरभिहितास्ते जन्मयात्रा-  
स्वपिस्युः॥भजतियुवतिरेभिर्भूपसी-  
मंतिनीत्वं ग्रहयुतिबलयोगादुत्तराध-  
र्यमस्मिन् ॥ ४ ॥

अथैषांफलमाह-मालिनी । इतिसप्तशुभफलयोगाः  
सप्तर्षिमुख्यैर्मुनीन्द्रैरभिहितास्ते योगाः जन्मयात्रास्वपि-  
स्युः न केवलं विवाहे किंतु जन्मकाले यात्राकाले  
च शुभफला इत्यर्थः । तत्किंशुभफलमित्याह । भजती-  
ति । एभियोगैर्गुवातिः भूपसीमंतिनीत्वंभजति  
भूपस्य सीमंतिनी तस्या भावस्तथा 'नारी सांमं-  
तिनीवधूः' इत्यमरः । राजपत्नी भवतीत्यर्थः । अस्मिन्  
शुभफलेग्रहयुतिबलयोगादुत्तराधर्यं स्यात् ग्रहाणां

द्युतिर्योगः तत्र बलयोगः सबलत्वं तस्मात् उत्तरं च अधरं च उत्तराधरे तयोर्भावः उत्तराधर्यं योगकर्तृग्रहाणां बलवशाच्छुभफलस्याधिक्यं न्यूनत्वं कल्पितमिति भावः ॥ ४ ॥

दिनकररुधिराभ्यां व्यालपातालवक्रौ क्षय इति रविपुत्रे सैंहिकेये तमस्कम् ॥ तनुगृहयुजिकेतावंतकस्तेषु शोकव्यसननिधनताभिस्तप्यते पंकजाक्षी ॥ ५ ॥

अथ शुभयोगानाह—मालिनी । तनोर्गृहं तनुगृहं तेन युनक्तीति तनुग्रहयुक् तस्मिन्नग्नगतइत्यर्थः । एतत्प्रत्येकं संबध्यते । दिनकररुधिराभ्यां लग्नगताभ्यां क्रमेण व्यालपातालवक्रौ योगौ स्तः रविणा लग्नगतेन व्यालो भौमेन पातालवक्र इति रविपुत्रे शनौ लग्नगते क्षय इति योगः सैंहिकेये रादौ लग्नगते तमस्कमिति योगः केतौ लग्नगते अंतक इति योगः एवं पंच तेषु योगेषु पंकजाक्षी नारी शोकव्यसनविधनताभिः तप्यते । कर्मकर्तारिरूपम् । विधनताभिरिति करणं यद्वा कर्मणिरूपं तदाविधनताभिरिति कर्ता । एतत्प्रत्येकं फलम् ॥ ५ ॥

तनुतुहिनमरीच्योरंगनाखेटदृष्टौ च-



रगृहगतयोः स्यात्कांतयुग्मं कुमा-  
र्याः। अविदिशि बलिनश्चेद्यायिनोयु-  
ग्मइंदावशुभदशमुपेते कन्यकात्व-  
न्यकाम्या ॥ ६ ॥

अथान्यदुष्टयोगद्वयमाह-मालिनी । तनुर्लग्नं तुहिन  
मरीचिश्चंद्रः तयोर्लग्नचंद्रयोः चरगृहगतयोः चरराशि-  
स्थितयोः । आधारे सप्तमी । अंगनाखेटशुक्रः तस्य दृ-  
ष्टौ सत्यां चरराशिस्थौ लग्नचंद्रौ शुक्रेण दृष्टावित्यर्थः ।  
चेद्यायिनो ग्रहा अविदिशिस्थिताः संतो बलिनः स्युः  
तदा कुमार्याः कांतयुग्मं भर्तृद्वयं स्यात् एतदुक्तं  
भवाति जातके प्राच्यादिषु जीवबुधावित्यादिना दि-  
ग्वलार्थं न्यासे लग्नं प्राच्यां भवति चतुर्थमुदीच्यां  
सप्तमं प्रतीच्यां दशमं दक्षिण इति शिष्टान्यष्टौ तन्म-  
ध्यवर्तिषु चतसृषु विदिक्षु भवन्ति कोणगता दिग्वि-  
दिगित्युच्यते तस्या अन्या अविदिक् सा दिगेव प्राच्या  
दिका तस्यां स्थिताः यायिनो ग्रहाः लग्ने चतुर्थे स-  
प्तमे दशमे चेत्यर्थः । यातुं शीलं येषां ते यायिनः  
स्थातुं शीलं येषां ते स्थायिनस्तएव पौराः उभयविल-  
क्षण आक्रंदः । ते वराहेणोक्ताः । 'रविराक्रंदो मध्ये  
पौरः पूर्वे परे स्थितो यायी ॥ पौरा बुधगुरुशुक्रा नित्यं  
शीतांशुराक्रंदः ॥ केतुकुजराहुशुक्रा यायिनः' इति अर्थः

तत्र गतैः। अपिः समुच्चये। तन्वाधिपेनापि अरिनीचास्त-  
 गतेन एवं योगे नितंबिनी स्त्री निरपत्या अपत्यर-  
 हिता सती नियतं निश्चितं तप्यते तापं प्राप्नोति । अ-  
 त्र सप्तमभवने निर्बले सतीति प्रक्षेप्तव्यम् । तथा च  
 शौनकः “ लग्नपतौ रिपुभवने नीचे वा रविसुतारज-  
 नीकरैः । बलरहिते च द्यूने स्त्रीणां न भवंत्यपत्या-  
 नि ” इति ॥ ९ ॥

कवेस्तृतीयस्य शुभाय रेखा लग्नं न-  
 भस्थो न भनक्ति भौमः। तद्वद्व्यये सौ-  
 रिरपीतिरीतिर्जनेषु जागर्तितरां कु-  
 तस्त्या ॥ १० ॥

अथ शास्त्रविरुद्धं किंचिल्लोकेस्ति तदुपहसति  
 उपजातिका । तृतीयस्य कवेः शुक्रस्य रेखा शु-  
 भाय भवेत् लग्नस्य ग्रहबलावलोकने गणनार्थं प्रति-  
 ग्रहमेकैका रेखा क्रियत इति ज्योतिर्विदां संप्रदायः ।  
 तत्र तृतीयः शुक्रः शुभ इति कृत्वा रेखा क्रियत इत्ये-  
 का रीतिः नभःस्थो दशमस्थो भौमः लग्नं न भन-  
 क्ति लग्नभंगकर्ता न भवेदित्यन्या रीतिः तद्वद्व्यये  
 द्वादशे सौरिः शनिरपि लग्नं न भनक्तीति तृतीया  
 रीतिः इयं रीतिः पद्धतिर्जनेषु कुतस्त्या जागर्तित-  
 राश्च इयं रीतिः सर्वथा निर्मूला लोकेषु कस्माद्धेतोर्जा-

ता अतिप्रसिद्धास्तीति अस्या न कुत्रापि मूलं दृश्यत इत्यर्थः । कुतो जाता कुतस्त्या अतिशयिता जागर्तीति जागर्तितरां आख्यातात्तरणं आम् च तदन्तमव्ययम् ॥ १० ॥

उशना गुरुरिन्दुनन्दनः शशिजामित्र-  
गपापतापहृत् ॥ नवपंचमकेंद्रमित्र-  
भप्रणयीपुष्टदृशा विधुं स्पृशन् ॥ ११ ॥

अथ जामित्रदोषस्य भंगमाह—वैतालीयं । उशना शुक्रः गुरुर्बृहस्पतिः इन्दुनन्दनो बुधः अयमेकोपि शशिजामित्रगपापतापहृत्स्यात् शशिनः जामित्रं गच्छतीति तथा स चासौ पापश्च तस्य तापः अशुभं तं हरतीति तथा चंद्रात्सप्तमः पापस्य दोषहर्ता भवतीत्यर्थः । कथंभूतः नवपंचमेति नवपंचानां पूरणे नवपंचमे ते च केंद्राणि च नवपंचमकेंद्रं तच्च तन्मित्रं च तत्र प्रणयोस्त्यस्यासौ तथा नवपंचमकेंद्रगतः सन्मित्रगृहस्थित इत्यर्थः अपि च पुष्टदृशा विधुं स्पृशन् पूर्णदृष्ट्या चंद्रं पश्यन्नित्यर्थः । अत्र केंद्रसप्तमविरहितं ज्ञेयमशुभत्वात् । तथा चोक्तं “ हरिज-  
दिवसचंद्रात्सप्तमकूरदोषक्षयकृदमरपूज्यः सोमपुत्रः  
सितो वा । उदयहिबुकधर्मव्योमपुत्रालयस्थो यदि  
च सकलदृष्ट्यालोकयेच्छीतरश्मिम् ” इति ॥ ११ ॥

शाश्च तेषां यानि स्थानानि तेषु द्वाष्टं दत्त्वा तन्वादि-  
फलेषु च द्वाष्टं दत्त्वा तद्वली बलं विचार्य यदादिष्टं त-  
दन्यथा न स्यादिति कृत्वा स दैववित्सतां वंध्यः  
स्यादित्यर्थः ॥ १४ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्म-  
जगणेशविरचितायां विवाहवृन्दावनटीकायां विवाहदी-  
पिकायां ग्रहयोगादिवलावलाध्यायस्रयोदशः ॥ १३ ॥

— अथ मिश्राध्यायः ॥ —

उल्लिख्य सामुद्रिकलक्षणानि वरः  
कुमारीं वृणुयान्निमित्तैः । एवं कुमा-  
रीवरमप्युदकस्तर्हीकधारं निरधा-  
रि धीरैः ॥ १ ॥

अथ स्त्रीपुंसयोः सामुद्रिकलक्षणपूर्वको मिश्राध्या-  
य आरभ्यते तत्रादौ तत्कारणमाह- उपजातिका ।  
वरः कुमारीं वृणुयात् कैर्निमित्तैः यल्लिखितलकेत्या-  
दिना वक्ष्यमाणैः किं कृत्वा सामुद्रिकलक्षणानि उल्लि-  
ख्य प्रकटीकृत्य समुद्रेण प्रणीतानि लक्षणानि सामुद्रि-  
कलक्षणानि सामुद्रिकानि स्त्रीपुंसयोः शुभाशुभलक्ष-  
णानां मुख्यप्रवर्तकः समुद्र एव यथा व्याकरणस्य  
पाणिनिः छंदसश्चपिंगलः अतस्तानि सामुद्रिक-

लक्षणानीत्युच्यन्ते । कुमार्याः सामुद्रिकलक्षणेः  
 प्रश्नकाले निमित्तादिभिश्च शुभं ज्ञात्वा तां  
 वरयेदित्यर्थः । एवं वरमपि कुमारी वरयेत् वरस्या-  
 पि शुभं ज्ञात्वा तां वरं कुमारी वृणुयादित्यर्थः । एवं  
 चेत्तर्हि प्रागुक्तेन फलसंदर्भेण किमित्याशङ्कायामाह ।  
 उदकं इति । हि यस्मात्कारणादुदकः उत्तरकालीनं फ-  
 लं धीरैर्गर्गादिभिरेकधा एकप्रकारमरं निश्चितं न  
 निरवारं न निर्धारितं भाविफलमनेनैव प्रकारेण ज्ञेय-  
 मिति न निश्चितमिति भावः ॥ १ ॥

स्वप्नो निमित्तं शकुनाः स्वकर्म शरी-  
 रमागंतुकमद्भुतानि ॥ दोषाति चारग्र-  
 हचारकालकाम्यानि चैवं विविधः  
 फलाध्वा ॥ २ ॥

तदेव प्रपञ्चमाह—इंद्रवज्रा । एवं स्वप्नादिकः फला-  
 ध्वा फलमार्गः विविधोनेकप्रकारोस्ति स्वप्नो निद्रा-  
 विशेषजज्ञानं । ननु 'स्यान्निद्राशयनं स्वापः स्वप्नः सं-  
 वेश' इत्यभिधाने निद्रास्वप्नयोरभेदाः । सत्यं । तथा-  
 प्यवांतरविशेषाद्भेदोस्त्येव वनगहनवत् । तथाहि जाग्र-  
 त्स्वप्नसुषुप्तितुरीया इत्यवस्थाचतुष्टये योगशा-  
 स्त्रे प्रसिद्धं तत्र जगतः प्रसिद्धा मनसो निरिन्द्रियप्रदेशा-

वस्थानं निद्रा साद्विधा स्वप्नः सुषुप्तिरिति यत्र दुष्टांतः-  
 करणजं ज्ञानमस्ति सा स्वप्न इत्युच्यते यत्र तु एत-  
 न्नास्ति सा सुषुप्तिः एतन्नित्यं सर्वजनानुभवसिद्धं ति-  
 सृभ्योविलक्षणा सा तुरीया सा च योगिनामेव । स्वप्ना-  
 वस्थायां तद्वत् ज्ञानमपि स्वप्नशब्देनोपचर्यते । यथा  
 श्रीमद्भागवते 'स्वप्नो निद्रानुगो यथा' इति नैपथका-  
 व्येपि । न सा निशि स्वप्नगतं ददर्श तम्' इति । अत-  
 स्तल्लक्षणमाहुर्नैयायिकाः । 'योगजधर्माननुगृहीतस्य  
 मनसो निरिन्द्रियप्रदेशावस्थानं निद्रा तत्र दुष्टांतः-  
 करणजं ज्ञानं स्वप्नः' इति । एवमत्र स्वप्नशब्देन नि-  
 द्राविशेषजं ज्ञानमुच्यते तस्मात्फलादेशः अयमेको  
 मार्गः । निमित्तानि क्षुतदुर्वचनादीनि शकुनाः पूर्णकुं-  
 भादयः स्वकर्म निजप्राचीनकर्मविपाकः शारीरं सा-  
 मुद्रिकलक्षणादि आगंतुकं भविष्यद्भूतस्तुकं जातका-  
 दि अद्भुतानि उत्पाताः दिव्यभौमांतरिक्षाः दोषाः  
 वातपित्तश्लेष्मादयः स्वाभाविकाः शरीरस्थाः तेषा-  
 मभिचारः प्रचारः स्वरविधानादिग्रहचारा गोचरवक्र-  
 मार्गास्तोदयः कालः संवत्सरमासलग्नादिः का-  
 म्यं कांक्षितं ऐहिकं पुरुषचेष्टादि । तथा च शौनक-  
 "तिथिकरणक्षनिशाकरविलग्नपरिकल्पनामयम् । गर्गः  
 पाणिग्रहणेण फलं वदन्ति यवना वसिष्ठश्चाग्रहराशिगो-

चरभवं जातकविहितं च देवलः प्राह । शकुनिरुतज्ञाः  
 शकुनैर्निमित्तकुशलाः निमित्तैश्च कर्मसमुत्थं चान्ये  
 कुलदेशस्त्रीस्वभावमपरे तु इच्छन्त्यन्ये मुनयः काल-  
 विशेषाद्विशेषफलमिति । एवं स्वप्नादिः फलमार्गोना-  
 नाविधोस्ति अतो वरवध्वोः सामुद्रिकलक्षणस्वस्था-  
 रिष्ठादिकमप्यस्माभिरप्युच्यत इति भावः । तथा चाहुः ।  
 'जातकनिमित्तशुद्धां शुभलक्षणसंस्थितां कुलोद्भूताम् ।  
 वरयेत्सुतसौख्यार्थी यवीयसीं कन्यकाम्' इति । यवी-  
 यसीं न्यूनां वयसा प्रमाणतश्च ॥ २ ॥

प्राक्कर्म बीजं सलिलानलोर्वीसंस्का-  
 रवत्कर्म विधीयमानम् ॥ शोपाय  
 पोपाय च तस्य तस्मात्सदा सदा-  
 चारवतां न हानिः ॥ ३ ॥

एवं फलमार्गेष्वनेकेषु सत्सुतत्समाधानमाह । उप-  
 जातिका । एतत्प्रागेव व्याख्यातप्रायम् । पूर्वजन्मनि यदु-  
 पार्जितं सदसत्कर्म तत्प्राक्कर्मैत्युच्यते तदेव दैवं यदैहि-  
 कं कर्म तत्प्रयत्नः पौरुषं चोच्यते यत्प्राक्कर्म तस्य शो-  
 पाय क्षयाय पोपाय पुष्ट्यै च अधुना विधीयमानं  
 क्रियमाणं कर्म भवतीत्यन्ययः । किंवत् बीजं सलि-  
 लानलोर्वीसंस्कारवत् । ससिलं जलमनलोग्निः उर्वी

भूमिः आसां संस्कारः तद्वत् । यथा सद्बीजं सद्भिः स-  
लिलादिसंस्कारैः संस्कृतं सद्बुदेति वर्धते च अन्यथा  
क्षीयते तद्वत्सत्प्राक्कर्म ऐहिकेन सत्प्रयत्नेन वर्द्धते  
अन्यथा क्षीयत इति । तस्मात्कारणात्सदाचारवतां श्रु-  
तिस्मृत्याद्विषु यो विहितः स सदाचारस्तद्वतां पुरुषा-  
णां सदा कदाचिदपि न हानिः स्यात् । अशुभमपि  
कर्मफलं सत्प्रयत्नेन निवार्यत इत्यादिकं प्रपञ्चितं  
प्राक् । तस्मात्स्वप्ननिमित्तशकुनसामुद्रिकलक्षणादयोऽ-  
पि प्रयत्नलक्षणा अवश्यं विलोकनीया इति सिद्धम् ए-  
तदस्माभिः सप्रपञ्चं प्रथममेव निरूपितम् ॥ ३ ॥

फलेद्यदि प्राक्तनमेव तर्त्तिकं कृष्या-  
द्युपायेषु परः प्रयत्नः ॥ श्रुतिः स्मृति-  
श्चापि नृणां निषेधविध्यात्मके क-  
र्मणि किं निषण्णा ॥ ४ ॥

अथ केचित्प्राक्कर्मैव फलतीति मन्यमानास्तन्मतं  
निरस्यति । विपरीताख्यानकी । प्राग्भवं प्राक्तनं कर्म ।  
यदि प्राक्तनं कर्मैव फलेन्न तु प्रयत्नस्तदा कृषिवा-  
णिज्यादिपूपायेषु आगमप्रकारेषु परः प्रयत्नः किं  
कथमेतेषु कृष्यादिषु प्रयत्नः कर्त्तव्यः । यदवश्यं  
भावि तद्भवत्येवेति कृत्वा सर्वजनेन कृष्यादिषु



न प्रवर्तितव्यं स च प्रवर्तते अतः प्रत्यक्षविरुद्धं तदित्यर्थः । न केवलं प्रत्यक्षविरुद्धं किंच आगमविरुद्धमपीत्याह । श्रुतिरिति । नृणां निषेधविध्यात्मको निषेधविधिरूपे कर्मणि श्रुतिः स्मृतिश्च किं निषण्णा कथं प्रवृत्ता 'आत्मानं सततं गोपाय' इत्यादि श्रुतीनां । "न वृक्षमारोहेन कूपमवेक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेन संशयमभ्यापयेतेत्यादि" आश्वलायनादिकल्पानां 'श्रीकामः पुष्टिकामो वा ग्रहयज्ञं समाचरेत्' इत्यादियज्ञवल्क्यादिस्मृतीनां चिकित्सादिशास्त्रस्य च वैद्यार्थ्यप्रसंगः स्यादित्यर्थः । एतदपि सप्रपञ्चं प्रथममेव निरूपितं अतो यदुक्तं तत्सम्यक् ॥ ४ ॥

छायां विधोर्न ध्रुवमृक्षमालामालोकयेद्यो न च मातृचक्रम् ॥ खंडं पदं यस्य च कर्दमादौ कफश्च्युतो मज्जति चांबुचुंबी ॥ ५ ॥

अथ प्रकृतं तत्र तावत्स्वस्थारिष्टान्याह श्लोकसप्तकेन । उपजातिका । अमुं वरं न वृणीरन्नित्युत्तरेण सर्वत्र संबंधः । अमुकं यः विधोः छायां कलंकं न आलोकयेन्न च ध्रुवं नक्षत्रमालां नक्षत्रमंडलं न च मातृचक्र-

मालोकयेन्मातृसंज्ञाः ताराविशेषास्ताराचक्रं मंडलं  
 यस्य च कर्दमादौ खंडं पदं भवति कर्दमधूलिप्रभृ-  
 तिषु क्षिप्तपदस्य प्रतिरूपं खंडं भवतीत्यर्थः । यस्य  
 कफः श्लेष्मा उदके च्युतः निष्ठूतः सन् अंबुचुंबी  
 मज्जाति अंबु चुंबतीत्यंबुचुंबी जलमाकृष्य बुडती-  
 त्यर्थः ॥ ५ ॥

उरः पुरः शुष्यति यस्य चाद्रिं न  
 मांति तिस्रोऽंगुलयश्च वक्त्रे ॥ स्नात-  
 स्य मूर्धन्यपि धूमवल्ली निलीयते  
 रिक्तमुखः खगो वा ॥ ६ ॥

यस्य च उरः उरस्थलम् उदकचंदनादिना आर्द्र-  
 छिन्नं सदन्यस्माच्छरिस्थानात्पुरः पूर्वमेव शुष्यति  
 शुष्कं भवति । यस्य च वक्त्रे मुखे कनिष्ठांगुष्ठौ विहाय  
 मध्यमास्ति तिस्रोऽंगुलयः परस्परकुक्षिसंलग्नाः न मांति  
 न समाविशन्ति । अपि वार्थे । यस्य वा उदकेन स्नात-  
 स्य मूर्धनि मस्तके धूमवल्ली धूमशिखा स्यात् । यस्य  
 वा मूर्धनि फलधान्यादिना रिक्तमुखः रिक्तचंचुः खगं  
 पक्षी निलीयते निर्विशति ॥ ६ ॥

नाकीर्णकर्णः शृणुयाच्च घोषं नो वा सु-

भुक्तोपि धृतिं न धत्ते॥निश्रीरकस्मा-  
त्सुतरां च सुश्रीः कृशः स्थवीयान-  
पि योप्यकस्मात् ॥ ७ ॥

यश्चांगुल्यादिना आकीर्णकर्णः आवृतकर्णरंध्रः स-  
न् अंतर्वर्तिनं स्वाभाविकं घोषं न शृणुयात् । यो वा सु-  
भुक्तोपि अतिशयितं भुक्तोपि धृतिं तृप्तिं न धत्ते । अ-  
तिभुक्तः सन्नपि तृप्तिं न प्राप्नोतीत्यर्थः । यश्च सुश्रीरप्यक-  
स्मात्सुतरां निश्रीर्भवति यश्च निश्रीरप्यकस्मात्सुतरां  
सुश्रीर्भवंति । आपेः वार्थे । निर्गता श्रीः शोभा यस्यासौ  
तथा । यश्च कृशोप्यकस्मात्स्थवीयान् भवति यश्च  
स्थवीयानकस्मात्कृशो भवति । अतिशयितः स्थूलः  
स्थवीयान् । स्थूलदूरेति स्थवादेशः ॥ ७ ॥

अतीव तुच्छं बहु चात्त्यहेतोरतीत-  
सात्म्यः सदसत्प्रवृत्तौ ॥ अप्यंगुलि-  
क्रांतविलोचनांतो न मेचकं चांद्रक-  
मीक्षते यः ॥ ८ ॥

यश्च अहेतोः ज्वरादिहेतुं विना अतिशयितं अतीव तु-  
च्छमल्पम् अत्ति भक्षयति । भस्मकादेव्याध्यादिहेतुं  
विना अतीव बहु भूरि अत्ति यश्च सदसत्प्रवृत्तौ विषये  
अतीतसात्म्यः सच्च असच्च सदसती तत्र प्रवृत्तिः तस्या-

मतीतं त्यक्तं सात्म्यं स्वाभाविकं येन स तथा । यः  
स्वभावेन सत्प्रवृत्तिः सन् स चेदसत्प्रवृत्तिरित्यर्थः । अ-  
पि वार्थे योवा अंगुलिकांतविलोचनांतः सन् चंद्रकं  
मेचकं नेक्षते । अंगुलीभिः क्रांतौ आक्रमितौ लोचनां-  
तौ नेत्रप्रांतौ येन स तथा । मेचकवर्णो मयूरपत्रनिभः  
चंद्रकं खद्योता इव द्योतमानं स्वानुभवसिद्धम् ॥८॥

मध्येललाटं मणिवंधधारी न चा-  
लिपकां पश्यति यः कलावीम् ॥ अ-  
हेतुकं यः श्वगंधिगात्रः सर्वत्र सी-  
मंतितमूर्धजो वा ॥ ९ ॥

मध्ये ललाटस्येति मध्येललाटं 'पारेमध्ये पष्ठ्या  
वा' इत्यव्ययीभावः । मणिवंधं धारयतीति मणिवंधा-  
धारी यो ललाटमध्ये मणिवंधं धृत्वा अलिपकां कृशां  
कलावीं न पश्यति । तलहस्ताधस्तत्संधिर्मणिवंधः  
तदधो हस्तभागः । कलावीं स्त्रीणां करभूषणस्थानम् ।  
यश्च अहेतुकं । अकारणं श्वगंधिगात्रः श्वस्य गंध इव  
गंधो येषां तानि श्वगंधीनि तानि गात्राणि यस्या-  
सौ तथा । यो वा सर्वत्र सीमंतितमूर्धजः सीमंताः संजा-  
ता येषां ते सीमंतिताः ते मूर्धजाः केशा यस्या-  
सौ तथा । सीमंतः स्त्रीणां ललाटादूर्ध्वं केशवेशविशेषः  
प्रासिद्धः ॥ ९ ॥

अपि क्षरद्रोमनखः शरीरात्सद्यःस्र-  
वद्भ्रामविलोचनो वा ॥ निरीक्षते स-  
त्वममानुषं वा विस्रस्तनासानयन-  
श्रुतिर्वा ॥ १० ॥

अपि वार्थे । यो वा शरीरात्क्षरद्रोमनखः क्षरं-  
ति गलन्ति रोमाणि नखानि च यस्यासौ तथा । यो वा  
अमानुषं मानुषादन्यं सत्त्वं प्राणिनं पिशाचादिकं नि-  
रीक्षते । यो वा विस्रस्तनासानयनश्रुतिः नासा ना-  
सिका नयने नेत्रे श्रुतिः कर्णौ विस्रस्ताः शिथिली  
भूताः नासानयनश्रुतयो यस्यासौ तथा ॥ १० ॥

आक्षिप्यमाणो दिशि दक्षिणस्यां जा-  
गर्ति याने धिक्कृतः खरादौ ॥ नेदिष्टादि-  
ष्टान्तममुं कुमार्याऽनार्याः प्रदानाय व-  
रं वृणीरन् ॥ ११ ॥

इन्द्रवज्रा । यो वा स्वप्नमध्ये खरादौ गर्दभादौ यानेऽ  
धिक्कृतः आरूढो दक्षिणस्यां दिशि आक्षिप्यमाणः प्रेर्य-  
माणः सन् जागर्ति प्रबुध्यति अमुं वरं । आर्या ज्ञातारः कु-  
मार्याः प्रदानाय न वृणीरन् । तत्र कारणमाह । नेदिष्टे-  
ति । नेदिष्टः अतिसमीपः दिष्टान्तः प्रलयो यस्यासौ

तथा। अतिशयेन अंतिकः नेदिष्टः 'अंतिकवाढयोर्ने-  
दसाधौ' इति नेदादेशः । दिष्टांतः प्रलयोऽत्यय इत्य-  
मरः । आसन्नमृत्युं वरं न वरेयुरित्यर्थः । अर्थादेवंविधां  
कुमारीं वरोपि ॥ ११ ॥

छायां निरीक्ष्य क्षणमंतरिक्षं पश्यन्न  
योनिश्चलनेत्रपातः॥ शुभ्राभ्रसच्छाय-  
मिह स्वकायं पश्येत्स नश्येद्विकृतौ  
विकारः ॥ १२ ॥

अथ छायालक्षणेनारण्यज्ञानमाह । इन्द्रषट्पा । निश्चलः  
स्थिरः नेत्रयोः पातो यस्यासौ तथा । यः निश्चल-  
दृष्टिः सन् क्षणं स्वस्य छायां निरीक्ष्य ततः क्षणमंत-  
रिक्षं पश्यन् तथा स्वकायं स्वदेहं शुभ्राभ्रसच्छायं न  
पश्येत् स नश्येन्नाशं प्राप्नोति । शुभ्राणि शुभ्राभ्रमेघाः ते  
समाना छाया यस्यासौ तथा । समानस्य सादेशः । इहा-  
स्मिन्स्वकाये विकृतौ दृष्टायां सत्यां विकारः स्यात्  
यस्यांगस्य विकारो दृष्टस्तदंगस्य तथा विकारः  
स्यादित्यर्थः ॥ १२ ॥

प्रदक्षिणावर्तशरीररोमा वृषस्वनः फे-  
निलमूत्रपातः॥ नात्यल्पपाणिर्मनसा  
गभीरो धीरोन्नतारंभरुचिर्यशस्वी १३

अथ श्लोकत्रयेण पुरुषलक्षणमाह । उपजातिका ।

प्रदक्षिणं सव्यमावर्तः परिभ्रमो येषां तानि प्रदक्षिणा-  
वर्तानि तानि शरीररोमाणि यस्यासौ तथा । वृषस्य  
स्वन इव स्वनः शब्दो यस्यासौ तथा । फेनोस्ति  
यस्मिन्नसौ फेनिलः 'फेनादिलच्च' इति इलच्च । फेनिलः  
मूत्रस्य पातो यस्यासौ तथा । नअत्यल्पः अतिलघुः  
पार्ष्णिर्नयस्यासौ तथा । नाकादित्वान्नलोपः । पार्ष्णिर्गु-  
ल्फयोरेधःप्रदेशः 'तद्वन्थी धुटिके गुल्फौ पुमान् पार्ष्णि-  
रधस्तयोः' इत्याभिधानात् । मनसागभीरोगंभीरः ।  
प्रकृत्यादिभ्यश्चेति तृतीया । 'निम्रंगभीरं गंभीरम्' इत्य-  
मरः । धीरा निःसंदेहावर्धमाना आरंभेषु कार्यारंभेषु  
रुचिः प्रीतिर्यस्यासौ तथा । प्रशस्तं यशोस्त्यस्यासौ  
यशस्वी । प्रशंसायां मत्वर्थे विनिः ॥ १३ ॥

स्निग्धेक्षणत्वङ्नखदंतकेशा युवा  
सुवासाः परिवीतचेष्टः ॥ न स्त्रीमुखो  
निप्रभशांतमूर्तिर्न चातिकृष्णेक्षण-  
तारको वा ॥ १४ ॥

आख्यानकी । ईक्षणे नेत्रे स्निग्धाः सस्नेहाः ईक्षणे च  
त्वक्च नखाश्च दंताश्च केशाश्च यस्यासौ तथा युवा म-  
ध्यमवयस्कः । सुष्ठु वासोयस्यासौ तथा अमलिनवस्त्रः ।  
परिवीता अतिसंवृता चेष्टा शरीरैर्गितं यस्यासौ तथा ।

‘व्येऽसंवरणे’ । स्त्रियाः मुखमिव मुखं यस्यासौ स्त्रीमुखः  
न च स्त्रीमुखः । नितरां प्रभा यस्याः सा निप्रभा शांता  
मूर्तिर्यस्यासौ तथा । अतिकृष्णेक्षणतारको वा न भवति  
ईक्षणयोर्नैत्रयोस्तारके ईक्षणतारके अतिकृष्णे  
ईक्षणतारके यस्यासौ तथा ॥ १४ ॥

औचित्यचारी शुचिरिंगितज्ञो वि-  
शालहस्ताननबाहुवक्षाः ॥ सर्वोपि  
सत्वाकृतिमान्कुलीनः कन्याप्रदाना-  
य वरो न रोगी ॥ १५ ॥

उपजातिका । उचितं योग्यं तस्य भावः औचित्यं  
तच्चरति आचरतीति तथा । शुचिरनिन्दितः चारुः । इंगि-  
तं परस्परचेष्टितं तज्जानातीति तथा विशालं विस्ती-  
र्णं हस्तौ च आननं च बाहुच वक्षश्च यस्यासौ  
तथा । मुख्यलक्षणान्याह । सर्वोपीति । सर्वोपि एभिः  
सर्वलक्षणैः संपन्नोपि नरः सत्वाकृतिमान् कुलीनः  
न रोगी स्यात् । सत्त्वस्य आकृतिर्यस्यासौ तथा ।  
सात्विकप्रकृतिरित्यर्थः । कुलीनो विख्यातसत्कुलप्र-  
सूतः । न रोगी अव्याधितः । किमर्थं कन्याप्रदानाय ।  
एवं वरलक्षणान्युक्त्वा वधूलक्षणान्याह ॥ १५ ॥

श्मश्रुश्यामोन्नतोष्ठी पृथुकरचरणा  
ह्रस्वरुक्षाग्रकेशा निःशौचा रोम-



शांगी कृशकुटिलचलत्कूरसच्छद्मदृष्टिः ॥ वामावर्ता विशालोन्नतविकटनटङ्गललाटा स्पृशन्ती नोर्वीमन्त्यांगुलिभ्यामनियतबहुभुग्गोहिनी देहिनीरूक् ॥ १६ ॥

स्रग्धरा । इमश्रुभिः श्यामौ इमश्रुश्यामौ तौ उन्नतौ उच्चौ ओष्ठौ यस्याः सा तथा । नासिकोदरेति ङीप् । करौ च चरैणौ च करचरणं पृथु करचरणं यस्याः सा तथा । पृथुहस्तापृथुचरणाचेति । रुक्षाणि अस्निग्धानि अग्राणि येषां ते रुक्षाग्राः ह्रस्वा रुक्षाग्राः केशा यस्याः सा तथा । अत्र ङीपो विकल्पात्र ङीप् । शुचेर्भावः शौचं निःशौचा शौचहीना । रोमाणि संति येषु तानि रोमशानि । लोमादित्वान्मत्वर्थेशः । रोमशानि अंगानि यस्याः सा तथा । अंगगोत्राति ङीप् कृशा लघुः कुटिला वक्रा न्वलन्ती अस्थिरा कूरा उग्रा सच्छद्मा सकपटा । 'उपाधिश्छद्मकैतवे' इत्यमरः । एवंविधा दृष्टिर्यस्याः सा कृशकुटिलचलत्कूरसच्छद्मदृष्टिः । वामा अप्रदक्षिणा आवर्ता रोमावर्ता यस्याः सा तथा । विकटं विसदृशं नटतः नृत्यतः ते विकटनटती ते भुवौ ललाटं च तद्विकटनटङ्गललाटं विशालं विस्तीर्णम् ।

उन्नतमुच्चं विकटनटद्भूललाटं यस्याः सा तथा  
 बहुचत्त्वान्नङ्गीप् विशालोन्नतललाटा विकटनटद्भू  
 श्वेत्यर्थः । अंत्यांगुलिभ्याम् । कनिष्ठिकोपकनि  
 ष्टिकाभ्याम् उर्वीभूमिं न स्पृशन्ती अर्थाच्चरणस्य  
 यस्याश्चरणगतकनिष्ठिकोपकनिष्ठिके भूमिं न स्पृशत  
 इत्यर्थः । अनियतमसंख्यातं बहु भूरे भुनक्तीति अनि-  
 यतबहुभुक् एवंविधा गेहिनी गृहिणी देहिनीरुक् स्यात्  
 देहोस्ति यस्याः सा देहिनी 'स्त्री रुशुजाचोपताप'  
 इत्यमरः । सा स्त्री मूर्तिमान् रोग एवेत्यर्थः ॥ १६ ॥

या स्फिगललाटोदरलंबिनी सा स्या-  
 त्कांतकांतानुजतातहंत्री ॥ नितंबि-  
 नी स्वल्पनितंबगुह्या द्रुह्यात्पतिं  
 दीर्घगला कुलघ्नी ॥ १७ ॥

उपजातिः । या नितंबिनी स्त्री स्फिगललाटोदरलं-  
 बिनी सा क्रमेण कांतकांतानुजतातहंत्री स्यात् ।  
 'स्त्रियां स्फिजौ कटिप्रोथौ' इत्यमरः ॥ स्फिजौ  
 च ललाटं च उदरं च तैलवते सा तथा । दीर्घफि-  
 क् दीर्घललाटा दीर्घोदरीत्यर्थः । कांतश्च कांतानु-  
 जतातौ च ते तथा कांतो भर्ता कांतानुजो भर्तृकनी  
 यान् कांततातः श्वशुरस्तान् क्रमेण नाशयतीति । या  
 स्वल्पनितंबगुह्या सा पतिं द्रुह्यात् विरोधयति ।

‘ पश्चान्नितंवाः स्त्रीकट्याम् ’ इत्यमरः । गुह्यं योनिः  
स्वल्पनितंवा स्वल्पगुह्या चेति । या दीर्घगला सा  
कुलघ्नी भर्तृकुलनाशिनी ॥ १७ ॥

निःस्वातिह्रस्वा धमनौ पुरंध्री प्रा  
येण तत्रातिष्ठथुः प्रचंडा ॥ कपोल  
कूपा हसितेप्यशीला कूर्मोदरी दुःख  
दरी दुरात्मा ॥ १८ ॥

उपनातिः । या स्त्री धमनौ शिरायामतिह्रस्वा  
अतिकृशा सा पुरंध्री निःस्वा निर्धना भवति । यस्या  
अतिकृशाः शिरा इत्यर्थः । ‘ नाडी तु धमनिः शिरा ’ इत्य-  
मरः । ‘ दाराः स्यात्तु कुटुंबिनी पुरंध्री ’ इत्यमरः । तत्र  
तस्यां धमनौ या अतिष्ठथुः सा प्रचंडा अत्युग्रा  
स्यात् । यस्याः शिरा अतिस्थूला इत्यर्थः । या हसि-  
ते हास्ये सति कपोलकूपा कपोलयोर्गडयोः कूपौ  
गते यस्याः सा तथा सा अशीला दुराचारा भवति ।  
या कूर्मोदरी कूर्मसदृशजठरा सा दुःखदरी दुरात्मा  
भवति । दुःखस्य दरीव दरी दुःखदरी दुःखगुहा दुरात्मा  
दुष्टस्वभावा । ‘ डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् ’ इति डाष् ॥

रेखाभिरंगुष्ठतलेगनानां पुंस्त्रीप्रसूति  
विपुला लिपिकाभिः ॥ अच्छिन्नभिन्ना-

भिरखण्डमायुः खण्डं तदन्याभिर-  
मूभिरस्याः ॥ १९ ॥

एवं वरवध्वोः सर्वशरीरलक्षणमुक्त्वा विशिष्टं हस्त-  
चरणगतरेखालक्षणमाह श्लोकसप्तकेन। इन्द्रवज्रा। अंगु-  
ष्ठतले हस्तांगुष्ठमूलाधःस्थिताभिः रेखाभिः विपुला-  
ल्पिकाभिः क्रमेण पुंस्त्रीप्रसूतिर्वाच्या। यावत्यो विपुल-  
रेखास्तावंतः पुत्राः यावत्यः कृशास्तावत्यः कन्या  
इत्यर्थः। अमूभिः रेखाभिः अच्छिन्नभिन्नाभिः अच्छि-  
न्नाभिः अभिन्नाभिश्च अस्याः पुंस्त्रीप्रसूतेः आयुरा-  
युष्यमखण्डं परिपूर्णं वाच्यम्। तदन्याभिस्तद्विपरी-  
ताभिः छिन्नभिन्नाभिः खण्डमल्पमायुर्वाच्यम्। तासु  
रेखासु या या रेखा अच्छिन्नाभिन्ना तदपत्यं पूर्णायुः  
या छिन्नभिन्ना तदल्पायुरित्यर्थः ॥ १९ ॥

एका तिर्यक्तर्जनीं याति रेखां तर्ज-  
न्यंगुष्ठांतराले तदन्या॥ ते द्वे स्याता-  
मायुरैश्वर्यरेखे तत्सौंदर्ये सुंदरत्वं  
तयोः स्यात् ॥ २० ॥

शालिनी। एका रेखा तर्जनीं प्रदेशिनीं प्राति तिर्य-  
ग्याति तदन्या रेखा तर्जन्यंगुष्ठयोरंतराले स्थिता द्वे  
क्रमेण आयुरैश्वर्यरेखे स्याताम्। प्रथमा आयुष्यरेखा

द्वितीया ऐश्वर्यरेखेत्यर्थः । तयो रेखयोः सौंदर्ये सति अरूक्षगंभीरेति वक्ष्यमाणसौंदर्ये सति तयोः आयुरैश्वर्यरेखयोः सुंदरत्वं चारुत्वं स्यात् ॥ २० ॥

ऐश्वर्यरेखाशिखरेण मूलाद्युनक्ति या  
सौ पितृवंशरेखा ॥ नीरंध्रबंधा गृह-  
बंधनाय वंहीयसी वंशविवर्धनाय ॥ २१ ॥

उपजातिः । या रेखा मूलात्पाणिमूलाग्निर्गता सत्यैश्वर्यरेखायाः शिखरमग्रं तेन सार्द्धं युनक्ति योगं प्राप्नोति सा पितृवंशरेखा भवति । तादृशः पितृवंशो ज्ञेय इत्यर्थः । सा रेखा नीरंध्रबंधा निश्छिद्रा बंधरहिता च गृहबंधनाय भवति । गृहं गृहिणी तस्या बंधनमतिप्रीतिः सा च रेखा वंहीयसी अतिज्ञेयेन बहुला वंहीयसी वंशविवर्धनाय भवति । 'प्रियस्थिर' इत्यादिना बहुलस्य वंहादेशः ॥ २१ ॥

कनिष्ठिकाजीवितरेखयोः स्यान्म-  
ध्ये मिथः कांतकलत्ररेखा ॥ अप-  
त्यरीत्याकरभे परस्मिन्भवन्ति सां-  
मातुरवर्गरेखाः ॥ २२ ॥

उपजातिः । जीवितरेखा आयुष्यरेखा कनिष्ठिकाजीवि-  
तयोर्मध्ये करभप्रदेशे स्थिताः मिथः परस्परं कांतकल

त्ररेखाः स्युः। पुरुषहस्ते तावत्यस्तस्य भार्याः स्त्रीहस्ते तावंतस्तस्याः कांता इत्यर्थः। 'मणिबंधादाकनिष्ठं करस्य करभो वहिः' इत्यमरः। परे उर्वरिते अस्मिन्करभे स्थिताः सांमातुरवर्गस्य रेखाः अपत्यरीत्या ज्ञेयाः संमातुरपत्यानि सांमातुराः सोदराः 'मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्वायाः' इत्यणू । उच्चपथांगुष्ठतलपुत्राः कन्याश्च लक्षितास्तेषामायुष्यं तद्वदस्मिन् जीवितरेखाया अधःस्थिते करभे भ्रातरो भगिन्यश्च तेषामायुश्च लक्षणीयमिति भावः ॥ २२ ॥

अनामिकामूलविभूषणं या पुण्यस्य रेखा तदवाप्तिहेतुः ॥ निःसीमसीमं-  
तितपंचशाखा करोर्ध्वरेखा नकरो-  
ति राज्यम् ॥ २३ ॥

अनामिकाया मूलं तस्य विभूषणमेव विभूषणं या रेखा नित्यनपुंसकत्वात्स्त्रीविशेषणत्वेऽपि क्लीवत्वं अनामिकामूले ऊर्ध्वस्थितेत्यर्थः । सा रेखा पुण्यस्य रेखा कथंभूता तदवाप्तिहेतुः तस्य पुण्यस्य अवाप्तिः प्राप्तिः तस्य हेतुः । नित्यपुल्लिङ्गत्वात्स्त्रीविशेषणेऽपि पुल्लिङ्गत्वं । तस्यां सत्यां पुण्यप्राप्तिरस्तीत्यर्थः । निर्गता सीमा यस्यासौ निःसीमः सीमंतितः पंचशाखो यस्मिन्निति सीमंतिताः पंचशाखा यस्यासौ पंचशाखः पाणिः निः

सीमः सीमंतितः पंचशाखो यया सा तथा सा ऊर्ध्व-  
रेखा कस्य राज्यं न करोति अपि तु सर्वस्यापि राज्यं  
करोतीत्यर्थः । 'पंचशाखः शयः पाणिः' इत्यमरः । ययो-  
र्ध्वरेखया द्विधाकृतमिव पाणितलं भवति सावश्यं  
राज्यप्रदेत्यर्थः ॥ २३ ॥

अरूक्षगंभीरमनोहराभीरेखाभिरंत-  
र्मधुपिंगलाभिः ॥ न चातिवह्वीभिरवा  
मवामेष्वंगेषु पुंस्त्रीफलयोः स्फुटत्वम् २४

इत्यादीनां सर्वासामपि शुभानां रेखासाधारण्येन अति  
शयितत्वमाह विपरीताख्यानकी । अरूक्षाः स्निग्धाः गं-  
भीरा निम्ना मनोहराः सुंदराः अंतः अभ्यंतरे मधुवात्पिं-  
गलाः न च अतिवह्वयः न अतिसंकीर्णाः एतादृ-  
शीभिरुक्ताभी रेखाभिः पुंस्त्रीफलयोः स्फुटत्वं शुभ-  
फलाधिक्यं स्यात् । केषु अवामवामेषु अंगेषु पुरु-  
षस्य दक्षिणहस्तचरणादिषु स्त्रिया वामेष्वित्यर्थः २४ ॥

सरोजश्रीवृक्षध्वजगजतिमिस्तंभ-  
कलशस्रगादर्शच्छत्रांकुशकुलिशभृंगा  
रगिरिभिः ॥ रथाश्वश्रीवत्सव्यजनय-  
वयूपप्रभृतिभिर्नरा नार्यो राज्यं द-  
धति पदपाणिप्रणयिभिः ॥ २५ ॥

अथ करेचरणे वा राज्यचिह्नान्याह शिखरि-  
णी । सरोजं कमलं श्रीवृक्षो विल्ववृक्षः ध्वजः  
केतुर्गजो हस्ती तिमिरमत्स्यः स्तंभकलशौ प्रसिद्धौ  
स्रक् माला आदर्शो मुकुरः छत्रमातपत्रम् अंकुशः  
प्रसिद्धः कुलिशं वज्रं भृंगारः करकः गिरिः पर्वतः  
रथः प्रसिद्धः अश्वस्तुरगः श्रीवत्सो विष्णुवक्षसि  
रोम्णां प्रदक्षिणावर्तः तदुपचारात्प्रदक्षिणावर्तमात्रं  
गृह्यते । व्यजनं तालं यवो धान्यविशेषः यूपो यज्ञ-  
स्तंभः प्रभृतिभिरित्यादिभिश्चिह्नैः पदपाणिंप्रणयि-  
भिः चरणगतैः पाणिगतैर्वा नराः पुरुषाः नार्यः स्त्रियः  
राज्यं दधति धारयन्ति एभिर्लक्षणैः राज्यप्राप्तिरि-  
त्यर्थः ॥ २५ ॥

अर्चितं वचनमुन्नतं मनोनिर्विशेषसुखदं  
वपुर्दृशाम् ॥ अस्ति चेदघपराङ्मुखा  
मतिर्लक्षणैः किमपरैर्नृयोषिताम् ॥ २६ ॥

अथ मुख्यलक्षणान्याहारथोद्धतम् । यदि वचनं भा-  
षणमर्चितं पूजितं स्यात् । मनोहरमित्यर्थः । मनः  
मानसं उन्नतं पृथुलं नाल्पविषये मनःप्रवृत्तिरित्य-  
र्थः । वपुः शरीरं दृशां नेत्राणां निर्विशेषसुखदं निर्वि-  
शेषमधिकं सुखं तत्प्रददातीत्यर्थः । मतिर्बुद्धिः अ-  
घपराङ्मुखा पातकात्परावृत्ता तदा नृयोषितां पुरु-



पाणां स्त्रीणां वा परेर्लक्षणेः किम् । एषु चतुर्षु लक्षणेषु सत्सु अन्येषां शुभलक्षणानां किमपि न प्रयोजनमिति भावः । इति सामुद्रिकलक्षणानि ॥२६॥

✓ वरस्य कन्यावरणे वरेण्यो दुर्गे वयोदक्षिणचेष्टितश्च । अदक्षिणं चेष्टितमिष्टमाहुस्तयोः कुमारी वृणुयाद्दरं चेत् ॥२७॥

अथ निमित्तानि । तत्र वरणकाले पक्षिचेष्टितमाह । उपजातिः । वरस्य कन्यावरणसमये यदा वरः कन्यां वरीतुमिच्छति तस्मिन्काले यः कश्चन पुंलिंगः पक्षी दक्षिणचेष्टितः दक्षिणांगे कंठ्यन् कंपनादिभिश्चेष्टितो भवति स वरेण्यः अतिशुभः स्यात् । का इव दुर्गा इव । दुर्गा कृष्णचीटिका । स्त्रीलिंगपक्षिषु मध्ये दुर्गापि दक्षिणचेष्टिता शुभेत्यर्थः । अर्थादनयोर्वामचेष्टितमशुभमिति । कुमारी नरं चेद्वृणुयात्तस्मिन्काले तयोः पुंलिंगपक्षिदुर्गयोः अदक्षिणं वामांगचेष्टितमिष्टं शुभमाहुः ॥ २७ ॥

शुनो गतिर्दक्षिणेष्टा कुमारी यत्र कांक्षिणी ॥ अदक्षिणा यत्र तत्र वर एतां ववूर्पति ॥ २८ ॥

अथ शुनश्चेष्टितमाह । अनुष्टुप् । यत्र कुमारी कां

क्षिणी वरं वरीतुमिच्छति तत्र शुनः शुनकस्य दक्षि  
णां स्वकीयदक्षिणभागे गतिरिष्टा शुभा । यत्र वरः एतां  
कुमारीं वुवूर्पति वरीतुमिच्छति तत्र शुनो गतिरद-  
क्षिणा स्वस्य वामभागे चेत्तदा शुभा ॥ २८ ॥

आरोप्याक्षतपूरिते गणपतिं प्रस्था  
दिपात्रे शनैः संमार्जन्यववेष्टिते युव-  
तयस्तिस्रः सकन्या निशि ॥ निर्याता  
रजकादिवेश्मसु करे कृत्वा तमभ्य-  
र्चितं यां वाचं शृणुयुस्तदर्थं सहस्रं  
सिद्धिः किलोपश्रुतौ ॥ २९ ॥

अथोपश्रुतिशकुनमाह । शार्दूलविक्रीडितम् । अक्षतै-  
स्तंदुलैः परिपूरिते प्रस्थादिपात्रे प्रस्थकुटपादीनां  
मानपात्रे संमार्जन्या अववेष्टिते आछादिते गणेश-  
प्रतिमामारोप्य प्रक्षिप्य सकन्याः एकया कुमार्या  
सहितास्तिस्रो युवतयः सुवासिन्यः निशि रात्रौ रज-  
कादीनां वस्त्रनिर्णेजकमद्यकारादीनां वेश्मसु गृहस-  
मीपे शनैर्निर्याताः । किंकृत्वा एवंविधगणपतिं गंध-  
पुष्पादिभिरर्चितं पूजितं करे हस्ते कृत्वा तस्मिन्  
गृहे स्थितानां मनुजानां यां वाचं यद्वचनं शृणुयुः  
आकर्णयेयुः । तस्यार्थः अभिप्रायः तेन सहस्री सिद्धिः

चिंतितकार्यस्य सिद्धिर्ज्ञेया । किलेति निश्चये । अत्रा-  
धिवासनमंत्रादिकं विधानमालाद्युक्तं ज्ञेयम् । ॥२९॥

श्रुतित्रिपूर्वावसुवन्दिहमित्रविश्वानि  
लक्ष्मं वरणं कुमार्याः ॥ तच्चावमन्येत  
न चेतसापि यदा चरेयुः स्वकुलो  
क्तमार्याः ॥ ३० ॥

इत्यादिलक्षणेः परीक्षितां कन्यां वरो वरयेत्कन्यापिवर-  
मित्युक्तम् । तत्र कन्यावरणनक्षत्राणिकुलधर्मानतिक्रमणं  
चाह उपजातिः । श्रुतिः श्रवणः त्रिपूर्वाः पूर्वात्रितयं वसवो  
धनिष्ठा वह्निः कृत्तिका मित्रो नुराधा विश्वे उत्तराषाढा  
अनिलः स्वाती एषु नक्षत्रेषु कुमार्या वरणं स्यात् । अथ  
कुलधर्मः यत् आर्याः वृद्धतमाः स्वकुलोक्तं स्वकुल-  
परंपरागतमाचरेयुः । तच्चेतसापि नावमन्येत ।  
तस्यावज्ञा मनसापि न कार्या । किं पुनः साक्षात् ।  
अतस्ते कुलधर्मा अवश्यं कर्तव्या इत्यर्थः । तत्राप्याग-  
मविरुद्धाः न कार्याः । 'दिशाचाराः कुलाचारा ये तु  
विध्यविरोधिनः' इति स्मरणात् ॥ ३० ॥

वेदिकां विरचयेद्यथा तथा स्यादि-  
यं प्रविशतश्च दक्षिणे ॥ स्फूर्जना  
श्रययवोप्तिवार्णिकाः पणनवत्रिदिवसे  
पु नाग्रतः ॥ ३१ ॥

अथ वेदिकानिर्माणं तत्प्रभृतीनां कालं चाह। रथोद्ध-  
ता। वेदिकां तथा रचयेत्। तथा कथं। यथा इयं वेदि-  
का गृहं प्रविशतः पुरुषस्य दक्षिणे भागे भवति। तस्याः  
लक्षणभूषणादिकं नारदादिभिरुक्तं ज्ञेयं। इत्यादीनां  
विवाहकृत्यन्तानामारंभकालमाह। स्युरिति। जनाश्रयो-  
मंडपः 'मंडपोऽस्त्री जनाश्रय' इत्यमरः। यवोत्तिर्यववापः  
अंकुरार्पणमिति यावत्। तत्प्रकारः शौनकस्मृत्यादि-  
पूक्तः। वर्णिका लोकप्रसिद्धाः अपूपविशेषाः। यद्वा वर्ण-  
का रंगवल्ल्यादयः। एतदुपलक्षणेन दलनकंदनव्रंशका-  
दि गृह्यते। एतानि अग्रतः पूर्वं लग्नदिनमारभ्य षण्णव-  
त्रिषु पष्ठतृतीयनवमेषु दिवसेषु न स्युः। पश्चादपि  
तदुद्घासनादिकं च ज्ञेयम्। केचित्तु नवमदिनं शुभमाहुः।  
देशाचारतो व्यवस्था ॥ ३१ ॥

कन्यकोक्तविधिवत्पुलोमजापूजनं  
सयुवतिः समाचरेत् ॥ घ्नंति चाशुभ  
मविघ्नमातरो मातृयज्ञकुलकर्मशां  
तयः ॥ ३२ ॥

इति विवाहवृन्दावने मिश्राध्याय  
श्चतुर्दशः ॥ १४ ॥

अथेंद्राणीपूजनादिकमाह। युवतिभिः सुवासिनीभिः

सहिता सद्युवतिः कन्यका उक्तविधिवत् सुभगामथें-  
द्रपत्नीं घटकारमृदा सुलक्षणावयवामित्यादिना शौन-  
काद्युक्तविधिना पुलोमो जाता पुलोमजा इन्द्राणी तस्याः  
पूजनं समाचरेत् । अथ मातृकादिपूजा । व्रंतीति । मातरौ  
द्विविधाः दैव्यो मानुष्यश्चेति । तत्र दैव्यो गौरपद्मेत्या-  
दयो ब्राह्मीमाहेश्वरीत्यादयश्च । मानुष्यः मातृमाताम-  
ह्यादयश्चतुर्विंशतिमतोक्ताः तासां यज्ञः पूजादिकं  
कुलकर्मशांतयः कुलोक्ताचारवशतो याः शांतयः  
कुलदेवतांराधनादयः ता अविघ्नमातरः तनुविस्तारे  
निर्विघ्नं निष्पादिताः अशुभं व्रंति नाशयन्ति । चः समु-  
च्चये । पुलोमजापूजनं च अशुभं व्रंतीत्यर्थः । अतः शची-  
मातृकापूजादिकमवश्यं कर्तव्यमिति भावः ॥ ३२ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्म-  
जगणेशविरचितायां विवाहवृंदावनटीकायां विवाहदी-  
पिकायां मिश्राध्यायश्चतुर्दशः ॥ १४ ॥

अथ वधूवरप्रश्नाध्यायः ।

कर्मायमूनुसहजस्मरगोमृगांकः स्त्री  
पुंससंगमयिता यदि जीवदृष्टः ।  
स्वक्षाणि शुक्रशशिदृष्टियुतानिकन्या  
लब्धये वधूगृहदृकाणनवांशका वा ॥१॥

अथ वधूवरप्रश्नाध्याय आरभ्यते। तत्रादौ वधूप्रश्ना-  
 हावसंततिलका। अस्माकमस्याः कन्यायाः लाभो भवि-  
 ष्यति न वेत्यस्मिन् प्रश्नकाले यल्लग्नं तस्माल्लग्न्यादिक-  
 मीयसूनुसहजस्मरगः दशमैकादशपंचमतृतीयसप्तमो  
 नृगांकश्चंद्रो जीवेन गुरुणा दृष्टस्तदा स्त्रीपुंससंगमयि-  
 ता स्यात्। स्त्रीपुंसेति अचतुरादित्वात्साधुः। तयोः संगमं  
 समागमं करोतीति स्त्रीपुंससंगमयिता कन्यालाभं  
 करोतीत्यर्थः। अयं योगः कन्याया वरलाभप्रश्नेपि।  
 अविशेषात् योगांतरमाहास्वर्क्षाणीति। शुक्रशशिभ्य  
 दृष्टानि युतानि वा स्वर्क्षाणि लग्नं गतानि स्वराशियश्च-  
 द्रशुक्रराशयः कर्कितुलावृषभाः कन्यालब्धे कन्या-  
 लाभाय भवन्ति। योगांतरमाहावधूगृहेति। वधूसंज्ञाः  
 समराशयो वृषकर्कटादयस्तेषां गृहाणि दृकाणा वा  
 नवांशका वा लग्नगताः शुक्रशशिदृष्टयुताः कन्याल-  
 ब्धे भवन्ति ॥ १ ॥

युग्मर्क्षगौ शशिसितौ द्विपदसंगनां-  
 शे स्यातां तदाप्तिपिशुनौ तनुमी-  
 क्षमाणौ ॥ नारी नवांशमुदितं ख-  
 चराः परेपि स्रैणक्षगाविलसदुज्ज्वल-  
 वीर्यभाजः ॥ २ ॥

योगांतरमाह। युग्मक्षगौ समराशिस्थितौ शशिसितौ  
 द्विपदांगनांशे स्थितौ द्विपदश्वासावंगनांशश्च स च  
 कन्यांश एव तत्र स्थितौ तनुं लग्नमीक्षमाणौ पश्यं-  
 तौ तदा तौ तदाप्तिपिशुनौ स्तः। तस्याः कन्याया ओ-  
 ष्तिस्तस्याः पिशुनौ सूचकौ कन्यालाभसूचकावित्यर्थः।  
 अत्र बलिनाविति शौनकीये विशेषोक्तिः। योगांतर-  
 माह। नारीति। उदितमुदयं प्राप्तं लग्नगतमित्यर्थः। उ-  
 दितं नारीनवांशं स्त्रीनवांशं वृषकर्कादिकं शशिसि-  
 तावीक्षमाणौ तदाप्तिपिशुनावित्यनुवृत्तिः। योगांतर-  
 माह। खचरां इति। परेपि शुक्रशनैश्चरव्यतिरिक्ता अ-  
 पि खचराः स्त्रैर्नक्षत्राः समराशिस्थिताः स्त्रीणामिमा-  
 नि स्त्रैणानि। 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्सौ' इति नञ्। विलसंतः  
 स्निग्धा उज्ज्वलाः प्रकाशमानाः वीर्यभाजः सवलाः  
 उदितं नारीनवांशमीक्षमाणाः कन्याप्राप्तिः सूचका इत्य-  
 नुवृत्तिः ॥ २ ॥

एवं नरा नरदृकाणनवांशद्वग्भिः पुं-  
 स्खेचरैरुपनमन्ति नितं विनीनाम् ॥ य-  
 ल्लिगिवालकपशुप्रभृतीं गितं स्यात्प्रश्न  
 क्षणे तदुतथैव वधूवरस्य ॥ ३ ॥

अथ कन्याया वरोपलब्धिप्रश्नमाह। एवमनेन  
 स्वर्क्षाणि शुक्रशशीत्यादिविधिना नराः पुरुषा नितं-

विनीनां स्त्रीणामुपनमन्ति समागच्छन्ति । लब्धा भवन्तीति यावत् । कैः नरदृकाणनवांशद्विभिः पुंस्स्वेचरैः नरा विपमराशयो मेपमिथुनादयस्ते च ते दृकाणनवांशाश्च नरद्रेकाणाः नरनवांशा इति तान्पश्यन्ति ते नरदृकाणनवांशद्विभिः तै पुंस्स्वेचरैः पुरुषग्रहैः रविभौमगुरुभिः । एतदुक्तं भवति । स्त्रीग्रहौ किल शशिसितौ यत्र शशिसितावुक्तौ तत्र पुंग्रहा ग्राह्याः यत्र स्त्रीदृकाणस्तत्र नरदृकाणः यत्र स्त्रीनवांशस्तत्र नरनवांशः यत्र स्त्रीराशिस्तत्र नरराशिरिति । एवमनेन विधिना उक्तयोगैरेव कन्याया वरोपलब्धिर्ज्ञेयाति । अथ निमित्तानि यच्छिगीति । प्रश्रक्षणे प्रश्रकाले लिङ्गिनः कापालिकाः बालकाः प्रसिद्धाः पशवः छागवृषतुरगादयः । प्रभृतिग्रहणाद्विश्वकोन्मत्तादीनां ग्रहणम् तेषां यदिङ्गितं चेष्टितं तद्वधूवरस्य तथैव भवति । उरित्यव्ययं निश्चये । ' तिष्यपुनवस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे ' इत्यत्र इतरेतरयोगद्वन्द्वेप्येकत्वज्ञापकात्सर्वोपि द्वन्द्वो विभापया एकवत्स्यात् । अतो वधूवरस्येत्येकत्वम् ॥ ३ ॥

प्रश्नोदयादमृतरोचिषिषण्मृतिस्थे  
मूर्तो च तत्र मदनस्पृशि चावनेये ॥  
तन्वस्तयोरशुभसंगतयोर्वरस्यनाशः  
क्रमाद्भुमहीमुनिसंमितेव्दै ॥ ४ ॥



अथ बधूवरप्रश्नकाले शुभाशुभयोगानाह। प्रश्नकाले  
उदयः प्रश्नोदयः । प्रश्नोदयः प्रश्नलग्नं तस्मात्प्रश्नोद-  
यादमृतरोचिपि चंद्रमसि पण्मृतिस्थे पष्ठे अष्टमस्थे  
वा सति अयमेकश्चंद्रकृतो योगः तत्र तस्मिन् चंद्र-  
मसि मूर्तो लग्नस्थे सति अवन्याः अपत्यभावनेयः  
भौमः । ' कृदिकारात् ' इति ङीपि कृते ' स्त्रीभ्यो ढक् '   
तस्मिन्भौमे मदनस्पृशि सप्तमस्थे वसति। चः समुच्चये।  
अयं चंद्रभौमकृतोद्विर्तायो योगः । तन्वस्तयोर्लग्नस-  
प्तमयोः अशुभसंगतयोः पापग्रहयुक्तयोः सतोः अयं  
पापद्वयकृतस्तृतीयो योगः । एषु योगेषु क्रमादसुम-  
हामुनिसंमितेब्दे वरस्य नाशः स्यात् प्रथमे योगे अष्टमे  
वर्षे द्वितीये एकवर्षे तृतीये सप्तमे वर्षे इत्यर्थः ॥ ४ ॥

जामित्रगौ विधुसितौ विधवामसां  
, ध्वीं सौरिः कुजोऽसुरमहेज्यबुधा  
धनाढ्यम् ॥ दीर्घायुपं वपुषि सुप्रसवां  
प्रसूतौ स्त्रीजातकोक्तमखिलं खलु  
चित्यमत्र ॥ ५ ॥

जामित्रगौ सप्तमस्थौ विधुसितौ चंद्रशुक्रौ बधूं  
विधवां कुरुतः । सौरिः शनिः कुजो भौमः जामित्रगः  
असाध्वी दुराचारां करोति । शौनकाये तु शनिर्मृत-

प्रजां भौमो मरणयुक्तामिति। तथापि फलं दुष्टमेव। म-  
हांश्चासौ इज्यश्च महेज्यः असुराणां महेज्यः शुक्रः  
बुधः प्रसिद्धः तौ जामित्रगौ धनाढ्यां कुरुतः। वपुषि  
लग्ने स्थितौ दीर्घायुषं कुरुतः। प्रसूतौ पंचमे स्थि-  
तौ सुप्रसवां शुभसंततिं कुरुतः। कुत्रचित्सुरमहेज्येति  
पाठः। तदसत्। यदाह शौनकः 'यदि पृच्छकलग्नस्थौ  
भृगुसौम्यौ जीविनीं कुरुतः। पंचमसंस्थौ पुत्रान्  
जामित्रगतौ विपुलधनम्' इति। अस्मिन् वधूवरप्रश्न-  
काले स्त्रीजातकोक्तमखिलं शुभाशुभं चिंत्यम् ॥ ५ ॥

भतिथिवारफलानि पदेपदे विरचि-  
तानि परैरिति नोचिरे ॥ सकलकर्म  
सु यस्तदुपक्रमः स हि विवाहमेव  
शुभे दिने ॥ ६ ॥

एवं कन्यावरोपलब्धिमुक्त्वा तल्लाभे सति  
दलनकंडनादिविवाहकृत्येषु शुभकालमाह-दुत-  
विलंबितम्। दलनकंडनादिषु सकलकर्मसु भतिथि-  
वारफलानि नक्षत्रादिफलानि परैरन्यैः पदेपदे विरचि-  
तानि। पदेपदे इति लौकिकाभिप्रायेणोक्तम्। अल्पकृत्ये  
षुअपि पृथक्फलानि विशेषाभावेऽप्युक्तानीत्यर्थः। तानि  
पृथक्फलानीति कारणादस्माभिर्नोक्तानि। केचित्परो-  
क्षाभावेऽपि भूतमात्रे लिटमिच्छन्ति। तथाच सुग्धबोधे

भवद्भूतभव्येषु क्यादयस्त्रयस्त्रिंश इति । अतएव वरा-  
हादिप्रयोगाः 'होरां वराहमिहिरो रुचिरांचकार' इति ।  
उदयनस्यापि 'व्यातेने किरणावलीम्' इति । इतीति कथं ।  
हि यस्मात्कारणात्तदुपक्रमस्तेषां सकलकर्मणां दलन-  
कंड नादीनां य उपक्रमः आरंभः स विवाहभे विवाह-  
नक्षत्रे एव शुभे दिने स्यात् शुभे व्यातिपाताविष्ट्या-  
दिमहादोषरहिते पणवत्रिदिवसेषु नाग्रत इति  
निषिद्धादन्यदिने च । तथाच श्रीपतिः 'विवाहकृत्यं  
निखिलं विवाहभे विलोकयेन्नात्र बलं हिमद्युतेः ॥ नच  
त्रिपष्ठोपि चवारकः शुभ' इति ॥ ६ ॥

प्रायो विवाहपटलं तटलंवमानस्तं-  
वापमं न सहते नयचालनानि ॥ वृंदा-  
वने परमतातपपीडयमानवृंदावनेनु  
रमतामिह सन्मतिश्रीः ॥ ७ ॥

इति विवाहवृंदावनेवधूवरप्रशनाध्या-  
यः पंचदशः ॥ १५ ॥

अथ निजकृतस्यास्य विवाहपटलस्य पूर्वभ्यो वैशि-  
ष्ट्यमाह-वसंततिलका । प्रायो बाहुल्येन विवाहपटलं वि-  
वाहफलसमूहः नयेन तर्केण चालनानि न सहते हेत्वा-  
दिना चालयितुं न शक्यते । आगमसिद्धत्वादिति भावः ।

अत्र विशेषणद्वारेण दृष्टान्तः। तदेति। तटे नदीतटे लंब-  
मानः प्रशिथिलमूलोयः स्तंबस्तृणस्तंबः तेनोपमीयते  
तन्नथा । यथा तटस्थो लंबमानस्तृणस्तंबो न चालनं  
सहते चारिते त्वंधःपतनमेव । तद्वद्विवाहपटलमपी-  
त्ययं । अत इह मयोक्तं वृन्दावने नाम्नि विवाहपटले तन्म  
तिश्रीः सतां विदुषां मतिः बुद्धिस्तस्याः श्रीः संपद्रमतां  
सुखेन क्रीडतां। अत्र हेतुः। कथंभूते परमतेति । परेषां म-  
तानि न देवातप उष्णं तेन पीड्यमानास्तेषां वृंदं तद्वत्  
प्रीणयतीति तथा । अयं भावः। यथा कश्चन आपतेऽ पी-  
ड्यमानो वने गत्वा सुखेन रमते तद्वत्परमतैः पीड्य-  
मानोऽस्मिन् वृन्दावने सुखेन रमतामिति । अथांति श्री-  
प्रयोगः समाप्त्यलंकारे यथात्र ग्रंथारम्भे॥ ७॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्म-  
जगणेशविरचितायां विवाहवृन्दावनटीकायां वधूवरप्र-  
श्राध्यायः पंचदशः ॥ १२ ॥

अथ विवाहवृन्दावने स्ववंशवर्णनम् ।

अभूद्भरद्वाजमहर्षिवंशे विश्वावतसे  
श्रुतितत्त्ववेदी॥ औदीच्यचारित्रपथप्र-  
वर्ती जनार्दनो याज्ञिकचक्रवर्ती॥ १॥

अथ स्ववंशवर्णनपूर्वकं ग्रंथालंकारमाहोपजातिः।  
भरद्वाजश्चासौ महर्षिश्च तस्य वंशे भरद्वाजगोत्रे वि-

श्वावतंसे अवतंसः कर्णपूरः विश्वस्य अवतंस इवावतंसः तस्मिन् विश्ववन्द्य इत्यर्थः । जनार्दनो नामाभूत् । कथंभूतः श्रुतीति श्रुतीनां वेदानां तत्त्वं याथार्थ्यं तद्वेत्तीति तथा । औदीच्याः औदीच्यजातीयजनाः तस्मिन् देशे ज्ञातयोनेकविधाः प्रासिद्धाः तेषां चारित्रं प्रचारस्तस्य पंथाः मार्गस्तं प्रवर्तयतीति तथा । औदीच्याचारमार्गप्रवर्तक इत्यर्थः । अनेन स्वधर्मोपासक इति सूचितम् । याज्ञिकेषु चक्रवर्तीव चक्रवर्ती श्रेष्ठतम इत्यर्थः ॥ १ ॥

अस्ति श्रियादित्य इति स्म तस्य  
सूनुः श्रियादित्य इति द्वितीयः ॥ त्रि-  
स्कंधपारंगतरंगमल्लस्तदात्मजो रा-  
णगइत्युदीर्ये ॥ २ ॥

तस्य जनार्दनस्य द्वितीयः सूनुः श्रियादित्य इत्यास्ति स्म आसीत् । इति सूर्यनामेत्याह क इव श्रिया दीप्त्या आदित्य इव तस्य श्रियादित्यस्य आत्मजः उदीर्ये राणगत इत्यासीत् । उदीर्यते तदुदीर्यं कथनीयं तस्मिन्नाप्नोति यावत् राणगनामेत्यर्थः । कथंभूतः त्रिस्कंधोति । त्रिस्कंधाः होरागणितसंहिताख्याः तेषां पारंगता अशेषज्ञातारः तेषां रंगे युद्धभूमौ म-

छ इव मल्लः।मल्लो बाहुयुद्धकुशलः।त्रिस्कंधज्योतिःशा  
स्त्रविदां पराभवकृदित्यर्थः ॥ २ ॥

श्रीकेशवः सुकविरध्ययनाध्वनीन  
व्यूहान्प्रतर्पयितुमर्थपयःप्रवाहैः ॥  
दैवज्ञराणगसुतः सुतपःश्रयेस्मि  
न्वृन्दावने मुनिगवीनिवहं दुदोह ॥३॥

वसंततिलका । अस्य दैवज्ञस्य राणगस्य सु-  
तः श्रीकेशवः सुकविः शोभनकविरस्मिन्वृन्दावने  
सुतपःश्रये मुनिगवीनिवहं दुदोह । मुनयो गाव इव  
मुनिगव्यः ' उपमितं व्याघ्रे ' ति तत्पुरुषः ' गो-  
रतद्धितलुकि ' इति दूच् टित्वात् ङीप् । ता-  
सां निवहः समूहस्तं दुदोह दुग्धवान् । किमर्थम् अ-  
ध्ययनाध्वनीनव्यूहान् अर्थपयःप्रवाहैः प्रतर्पयितुम्  
अध्ययनस्य अध्वा अध्ययनाध्वा तमलंगामिन इ-  
त्यध्ययनाध्वनीनाः अध्ययनमार्गज्ञानशीलाः ' अ-  
ध्वनो यत्त्वौ ' इति खः । अलंगामीत्यर्थः । ' आत्माध्वानौखे '   
इति अनः प्रकृतित्वम् । तेषां व्यूहाः समूहाः तान् अ-  
र्थपय इव अर्थपयः तस्य प्रवाहा ओघाः तैः सुष्ठु  
तपो येषां ते सुतपसः सुपुण्याः तैः श्रीयते सेव्यते  
तत्तथा । अत्रायं श्लेषः । सुतपोभिः सेव्यमाने वने अध्वगम-  
नेन खिन्नान्पयःप्रवाहैस्तर्पयितुं गावो दुह्यन्ते त-

द्वत्सुपुण्यैः सेव्यमानेस्मिन्बृन्दावननाम्नि ग्रंथे अन्य-  
ग्रंथाध्ययनेन खिन्नानर्थप्रवाहैस्तर्पयितुं मुनयो मया  
दुग्धा इति । तद्वचनेभ्यः सारं संगृहीतमित्यर्थः ॥ ३ ॥

अबहुदृष्टिधियः कियदप्यदः पदग  
भीरमधीरभिरंस्यते ॥ विशदशास्त्र-  
धियां त्विदमेकदा श्रुतिगतं रस-  
नासु विवृत्स्यति ॥ ४ ॥

अत एतत्सुज्ञेभ्य एव रोचयिष्यति कथमज्ञेभ्य इत्या-  
शङ्कायामाह द्रुतविलंबितम् । न बहु दृष्टं यया सा अब-  
हुदृष्टा साधीर्यस्यासौ अबहुदृष्टधीः तस्य अल्पदृष्टशा-  
स्त्रस्य अदः एतदपि कियत् किंपरिमाणमस्येति कियत्  
विशिष्टगुणमप्येतत्तस्य न किञ्चिदिति भावः । अधीरबु-  
द्धिः अभिरंस्यते अभिरामं प्राप्स्यति । अत्र विशेषण-  
द्वारा हेतुः । पदेति । पदैः गभीरं गंभीरपदमातिमन्दबु-  
द्धिस्तु अर्थं जानातु न वा पदगंभीरत्वादेवाह्लादयि-  
ष्यतीत्यर्थः । विशदशास्त्रधियां तु विशेषेण विशदा  
अत्यधिका शास्त्रे धीर्येषां ते तथा । तेषां तु इदमेक-  
वारमेव श्रुतिगतं कर्णप्राप्तं सत् रसनासु जिह्वा वि-  
वृत्स्यते विवृद्धिं प्राप्स्यति । गौप्यं रसनागतं सद्यस्य  
कस्य कस्यापि नौच्यते इदं कर्णपथे गतं सत् र-  
सनासु विवृत्स्यत इति रुच्यतिशयोक्तिः । उक्तं हि

भर्तृहरिणा—‘अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते वि-  
शेषज्ञः । ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंज-  
यति ’ ॥ इति ॥ ४ ॥ इति ग्रंथालंकारः ।

अत्र ग्रंथकृदुक्तयुक्तिममलां व्याख्याय सम्यक्त-  
तस्तत्कुत्रापि महद्विरोधि कुहचिद्वर्थं वृथैवोज्झितम् ।  
सद्युक्त्या तु निरस्य सारमुदितं तत्क्षम्यतां सज्जनास्त-  
द्विश्वासवतां प्रतीतिरिह न स्यात्तं निरासं विना ॥ १ ॥  
पश्चात्सागरपूर्ववर्तितटगे ग्रामेन नद्याभिधे रंभापूग-  
रंसालशीर्षनिचुलच्छायावितानेवसत् । नात्राशंस्रक-  
लाकलापचतुरः श्रीकेशवोस्यात्मजप्रीतौ युक्तिमतीं ग-  
णेशविबुधो वृन्दावनस्याकरोत् ॥ २ ॥ रसनगमनु १४७६  
तुल्ये शाक आनन्दवर्षे विवृतिमकृत शस्तां दीपि-  
काख्यां गणेशः ॥ यदिह लिखितमल्पानल्पकं वा स-  
दोषं तदतिविमलधीभिः शोध्यमित्यर्थये तान् ॥ ३ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्म-  
जगणेशदैवज्ञविरचितायां विवाहवृन्दावनटीकायां विवा-  
हदीपिकाख्यायां स्ववंशवर्णने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

ध्रुवानुराधामृगमूलरेवतीकरंमघा-  
स्वातिरद्विपणोगणः ॥ रवेरसीनामक-  
रादिषड्गृहीकरग्रहेमंगलकृन्मृगीदृशां



विवाहोपपदं वृन्दावनं व्याख्याय कैशवम् ॥  
 तत्कृतां लग्नशुद्धिं च गणेशो व्याचिकीर्षति ॥ ५ ॥  
 तत्रादौविहितनक्षत्रादिकमाह ॥ ध्रुवादिः करांतोयमेका-  
 दशनक्षत्रात्मको गणश्चेददूषणः वक्ष्यमाणपादवेधादि-  
 दोषरोहितस्तदा मृगीदृशां स्त्रीणां करग्रहे मंगलकृ-  
 त्स्यात् ॥ १ ॥

क्रूरोज्झितं द्विः शशिभोगतोर्वाक्-  
 दाप्यमाद्यं च शुभं न भं स्यात् ॥  
 त्र्यष्टार्कविंशं च कुजाकिंभानुस्वर्भा-  
 नुतः सत्रिविधाद्भुतं च ॥ २ ॥

अथ श्लोकत्रयेण नक्षत्रशुद्धिमाह । क्रूरेण पापग्रहे-  
 ण उद्भिद्धतं त्यक्तं भं नक्षत्रं न शुभं स्यात् । तदाप्यंते  
 न क्रूरग्रहेण आप्यं प्राप्यं भोग्यमाद्यं युक्तं च । अथ  
 लक्षा । त्र्यष्टेति । कुजो भौमः आर्किः शनिः भानू र-  
 विः स्वर्भानू राहुः तेभ्यः सकाशात्क्रमेण त्र्यष्टार्कविं-  
 शं तृतीयमष्टमं द्वादशं विंशं च सत्रिविधाद्भुतं त्रि-  
 विधैर्दिव्यभौमांतरिक्षैरद्भुतैरुत्पातैः सहितं च द्विःश-  
 शिभोगतोर्वाक् न शुभं स्यादिति प्रत्येकं संबध्यते ।  
 द्विवारं द्विः एभिर्दोषस्तत्रापि नक्षत्रं द्विधा चंद्रभो-  
 गादर्वाक् न शुभं । द्वितीये चंद्रभोगे शुभदं भवतीत्यर्थः ।  
 न शुभमित्यग्रेप्यनुवर्तनीयम् ॥ २ ॥

वैसाहगंशुव्यसमाप्तिसाग्रं संक्रांति  
साम्यं खलवेधवच्च ॥ स्वाशश्रमो  
भान्वभिरोपुनर्मूखरेमृहाणां त्रिभि  
रुत्तरैः स्यात् ॥ ३ ॥

अथ चंडायुधादि वै वैधृतः सा साध्यः ह हर्षणः गं  
गंडः शूशूलः व्य व्यतीपातः तेषां समाप्तिरवसानं तत्र  
साम्यं सशेषं यत् तेषां योगानामंते वर्तमानमित्यर्थः ।  
यच्च संक्रांतिसाम्यं चंद्रार्कयोस्तेन सहितं यस्मिन्न-  
क्षत्रे महापात इत्यर्थः । यच्च खलवेधवत् पापग्रहवेध-  
युक्तं तमेव वेधमाह।स्वाशेति । सवेधः स्वाशाद्यैराद्य-  
क्षरैरुपलक्षितनक्षत्राणां क्रमेण द्वयोर्मिथः स्यात्।सयथा  
स्वां स्वाती श शततारका अनयोर्मिथो वेधः । स्वाति-  
स्थेन ग्रहेण शततारका विद्धा शततारकास्थेन स्वाती-  
ति।एवमुत्तरत्रापि।श्र श्रवणः मःमघा अनयोर्मिथो वेधः।  
भभरणी अनु अनुराधा अनयोर्मिथो वेधः।अभि अभि-  
जित् रो रोहिणी अनयोर्मिथो वेधः । पुनः पुनर्वसुः मूः  
मूलम् अनयोर्मिथो वेधः । रेमृहाणां वेधः क्रमेण त्रिभै-  
रुत्तरैः स्यात् रेवत्युत्तरफल्गुन्योः मृगोत्तराषाढयोः  
हस्तोत्तराभाद्रपदयोरित्यर्थः ॥ ३ ॥

एकार्गलः साभिजितीदुतार्कः समे

स्ति योगेष्वशुभाह्वयेषु॥चतुर्दशं चे  
दुभमर्कधिष्ण्यादितीयमुक्तोद्ग्रहनर्क्ष  
शुद्धिः ॥ ४ ॥

अत्रैकार्गलादिकमाह । अशुभाह्वयेषु दुष्टनामसु  
योगेषु सत्सु इन्दुतः इन्दुनक्षत्रात् अर्कः सूर्यः साभिजिति  
समे ऋक्षे भवति तदा एकार्गलोस्ति।एतदुक्तं भवति ।  
'व्याघातशूलपरिधव्यतिपातविष्कंभगंडातिगंडवज्रवै  
धृता अशुभनामयोगाः' एष्वन्यतमे योगे सति चंद्र  
नक्षत्रमारभ्य.अभिजिता सह अर्कनक्षत्रं गणयित्वा य-  
दि युग्मा संख्या भवति तदैकार्गलः स्यात् । तद्ग्रं  
न शुभमित्यनुवृत्तिः । अथ संध्योदितमर्कधिष्ण्याच्च-  
तुर्दशमिन्दुभं चंद्रनक्षत्रं च अशुद्धमशुभं स्यात् । इती-  
यमुद्ग्रहनर्क्षस्य विवाहनक्षत्रस्य शुद्धिरुक्ता ॥ ४ ॥

षट्त्रयायेष्वशुभाः शुभाय निधनद्यू-  
नांत्यवर्ज्यं परे त्रयायार्थेषु शशीमृ  
तौ शनितमःसूर्याः परे भंगदाः॥ क्रूर  
द्यूनवृतान्विते शशितनू अस्ते सि-  
तज्ञौ विधुर्लगे सोमसिताधिपा द्वि-  
पि सितः सेंदुर्विनष्टौशपः ॥ ५ ॥

अथ लग्नशुद्धिमाह । पट् पष्टं त्रयस्तृतीयम् ।

अथैकादशम्। एष्वशुभाः पापग्रहाः शुभाय भवन्ति।  
 शेषेष्वशुभाय। निधनमष्टमं धूनं सप्तमम्। अंत्यं  
 द्वादशम् एतानि वर्जयित्वा अन्येषु नवसु स्थानेषु  
 परे सौम्यग्रहा बुधगुरुशुक्राः शुभाय स्युः ॥ शेषेषु  
 निधनधूनान्त्येष्वशुभाय। शशी चंद्रख्यायार्थेषु तृती-  
 यैकादशद्वितीयेषु शुभाय भवेत् शेषेष्वशुभाय।  
 तत्राष्टमे सर्वेषां विशेषमाह मृताविति। मृतावष्ट-  
 मे शनितमः सूर्याः शुभाय स्युः। नत्वशुभाय। अत्र रा-  
 हुग्रहणात्तत्स्वरूपांतरं केतुश्च। परेन्ये चंद्रभौमबुधगु-  
 रुशुक्राः मृतौ स्थिता भंगदाः लग्नभंगार्यं स्युः ॥ अन्या  
 नपि लग्नभंगानाह। क्रूरधूनेति। शशितनूक्रूरधूनवृत्तान्वि-  
 ते भंगाय भवतः। धूनं वृत्तमावृतं ययोस्ते धूनवृत्ते  
 ते च ते अन्विते च धूनवृत्तान्विते क्रमेण धूनवृत्तान्वि-  
 ते ते तथा लग्नस्य चंद्रस्य वा सप्तमं क्रूरान्वितं भवेत्।  
 यद्वा चंद्रो लग्नं वा क्रूरान्वितं भवेत्तदा लग्नभंगः  
 स्यादित्यर्थः। अस्ते सप्तमे लग्नाचंद्राद्वा सितज्ञौ शुक्रो  
 बुधो वा सोपि भंगाय। लग्ने विधुश्चंद्रो भंगाय। द्विपि पष्ठे  
 सोमसिताधिपाः भंगाय स्युः। सोमश्चंद्रः सितः शुक्रः  
 अधिपाः स्वामिनः लग्नांशद्रेष्काणानाम्। अत्र पष्ठं ल-  
 ग्नादेव न चंद्रात् सोमग्रहणात्। सितः शुक्रः सेंदुः स-  
 चंद्रः भंगाय शुक्रयुक्तश्चंद्र इति भावः। अंशपो नवांशा-  
 धीशो विनष्टोस्तंगतः भंगाय स्यात् ॥ ५ ॥

अंशाः षड्विंशतिवाद्रयस्तदाधिपे लग्नां  
 शयोर्द्वादशद्वित्र्यष्टासु न लग्नमस्त  
 लवपे तत्सप्तमाभ्यां तथा ॥ गंडांतेषु  
 च वैधृताडुभयतः संक्रांतियुग्मद्वये  
 यामार्धव्यतिपातविष्टिकुलके मासे  
 न्हिचोनाधिके ॥ ६ ॥

अथ नवांशशुद्ध्यादिकमाह । अंशा लग्ननवांशाः  
 षड्विंशतिवाद्रयः कन्यामिथुनधनुस्तुलाः शुभाः ।  
 तस्य नवांशस्याधिपे स्वामिनि लग्ननवांशयोः  
 लग्नान्नवांशाद्वा द्वादशद्वित्र्यष्टासु द्वादशद्विती-  
 यतृतीयाष्टमेषु स्थिते सति न लग्नं कार्यम् । अस्त-  
 लवपे अस्तांशाधिपे तत्सप्तमाभ्यां लग्नादंशाच्च  
 सप्तमाभ्यां सकाशात्तथा तद्द्वादशद्वित्र्यष्टासु स्थिते  
 सति लग्नं न कार्यम् । एषु स्थानेषु तस्य दृष्टिर्नास्ती-  
 त्यभिप्रायः । अथान्ये महादोषाः गंडांतेष्विति । त्रिविधे  
 षु गंडांतेषु शूलवैधृतवरीयसामित्युक्तेषु वैधृतौ  
 सप्तविंशयोगे च संक्रांतेः सकाशादुभयतः पूर्व प-  
 श्चाच्च यामद्वये षोडशघटीषु च यामार्धमर्धयामः  
 शास्त्रांतरोक्तः । व्यतिपातः सप्तदशो योगः । विष्टिभं-  
 द्रा सप्तमं करणं कुलिकः द्विधूनामनव इत्यादिनो-  
 क्तः तस्मिन् अनाधिके मासे क्षयमासेष्विमासे

तरे सहिता । स्वदेशफलभा भवेदित्यर्थः । सा त्रिवि-  
धा दशनागदिग्भिर्हता अंत्या पुनः अंतिमा तु द-  
हनहृत्त्रिशुद्धता चरखंडकानि स्युः । ॥ ८ ॥

लंकोदया भुजगभानि नवांकदस्त्रा  
वन्दिद्विकृष्णगतयश्चरखंडकैः स्वैः ॥

हीना विलोमविहिताः सहिता विलोमै-

र्व्यस्ताः पुनः स्वविषयोदयजा विनाढ्यः ९

अथोदयाः कृष्णगतयो गन्धयः शेषाः प्रसिद्धाः एते त्रयो  
लंकोदयाः स्युः । तैः स्वैश्चरखंडैः कैस्त्रिभिः क्रमेण हीनाः  
विलोमविहिता उत्क्रमस्थाः विलोमैश्चरखंडकैः क्र-  
मेण सहिताः । एवं मेपादीनां पण्णां जाताः । ते पु-  
नर्व्यस्ताः एवं द्वादश स्वदेशोदयजा विनाढ्यः स्युः ॥ ९ ॥

वेदात्यष्टिगुणाग्निधूर्जटिगजत्र्यंत्य-

ष्टिद्विग्विश्वभूमूर्च्छाभिर्धनुषो निहत्य

विभजेल्लग्नैः पञ्चवारंस्त्रिभिः ॥ मीनादि

पञ्चधनं तुलादिषु धनं लिप्तास्फुटो

भास्करः (?) ॥ १० ॥

मीनादिनां गणनातिरिक्तज्ञानमाह । अत्यष्टिः सप्तदश धूर्ज-  
टयोः अष्टौ । द्विग्विंशतिः अर्थाः पञ्च कामांकुशाः  
गुणाः शेषाः पण्णाः वराश्च प्रसिद्धाः । लग्नैः पञ्चवारान् लग्न-

कालपर्यंतं संक्रांतिमारभ्येष्टदिवसान् धनुषः धनुः-  
संक्रांतिमारभ्य वेदिभिर्द्वादशगुणकैर्यथाप्राप्तैः क्रमेण  
निहत्यातिथ्यादिभिर्द्वादशभिर्विभजेत् । फलं लिप्तः  
मीनादिषु कन्यांतासु गतेर्के अधनं तुलादिकुंभा-  
तेसधनं कृत्वा स्फुटो भास्करः स्यात् । एतदुक्तं भ-  
वति । संक्रमवशादकेराशान् ज्ञात्वा संक्रममारभ्य  
इष्टदिनपर्यंतं वेदादिदिवसास्तेतदधोऽंशाः स्युः । ते  
दिवसाः पृथक् धनुरारभ्य यथाक्रमप्राप्तेन गुणके-  
न संगुण्य यथा प्राप्तहरेण विभज्य कलादि यल्लब्धं तत्त-  
स्मिन् रवौ मीनादिषु सप्तसु गते ऋणं तुलादिपंचसु ग-  
ते धनं कार्यं स इष्टदिने स्फुटः सूर्यः स्यादिति ॥१०॥

रात्रौ भानुभार्धयुक्सायनांशस्तन्व-  
कांशाः स्वोदयघ्नाः पृथक्त्वे ॥ त्रिंश-  
द्भक्ता भुक्तभोग्याः पलादिस्तादृक्का-  
लो मध्यगस्वोदयाढ्यः ॥ ११ ॥

अथ कालज्ञानं स्पष्टार्थम् ॥ ११ ॥

भोग्यं रवेः समयमिष्टघटीपलेभ्य-  
स्त्यक्त्वोदयैः सह फलानि तदुद्धृता-  
नि ॥ त्रिंशद्गुणान्यगलितोदयभाजि-  
तानि भागाद्यजादिगृहशेखरितं तनुः  
स्यात् ॥ १२ ॥

देशान्तरपलेभ्योल्पचरार्थे सति वियोगे पश्चादन्यथात्वं  
भवति । तत्र वियोगेपि पूर्वमिति द्रष्टव्यम् ॥ एवं व्यभि-  
चारः परिहर्तव्यः ॥ १४ ॥

द्विघ्नेष्टनाडीशरलब्धितो वा स्युः का  
लहोरादिनपप्रवेशात् ॥ प्राग्वच्छरघ्ना  
गणयेदनिघ्नात्क्रूरापि लग्ने शुभवेद  
वर्गे ॥ १५ ॥

अथ प्रकारान्तरेण कालहोरामाह । दिनपप्रवेशात्  
द्विघ्नेष्टनाडीशरलब्धिताः कालहोराः स्युः । वारप्रवे-  
शमारभ्य इष्टवटिका द्विघ्नाः शरभक्ताः लब्धं काल-  
होराः स्युरित्यर्थः । ताः शरघ्नाः प्राग्वद्गणयेत् । तद्यथा  
तत्प्रमाणं निरवयवं वारादितो गणयित्वागता काल-  
होरा स्यात्तत्परस्य वर्तमाना इत्यर्थः । एवं प्रकारद्वये-  
नापि क्रूरा पापहोरापि अनिघ्ना अदुष्टा स्यात् । कस्मिन्स-  
ति लग्ने शुभवेदवर्गे सति शुभा वेदाश्चत्वारो वर्गा  
यस्मिन्स्तत्तथा सौम्यवर्गाधिकत्वे सतीति भावः ॥ १५ ॥

राश्यंशाः शशिभूगुणेक्षणहतास्ति  
य्यभ्रभूदिव्छरैर्भक्ता भार्धट्टका  
णनंददिनकृद्धागा गृहं यस्य यत् ॥  
त्रिंशांशः शनिसौम्यजीवरविजक्ष्मा



जन्मनां व्युत्क्रमादोजर्क्षेषु शरेषु स-  
पमरुतः पंचेति पङ्क्तिर्गिका ॥ १६ ॥

अथ पङ्क्तिर्गानाह । राशेरंशाः राशिभुक्ताः भक्ताः ।  
राशिभुक्ताः । भक्ताः राशिनिसंत्यज्य अंशा ग्राह्या इत्य-  
र्थः । ते चतुर्षु स्थानेषु क्रमेण राशिभूगुणेषु । १  
१ । ३ । २ । इतस्तितथ्यभ्रभूदिवृत्तैः १५ । १० ।  
१० । ५ । भक्ताः अभ्रभुवो दशांशेषाः सिद्धाः । लब्धा-  
नि भार्धादयो वर्गाः स्युः । भार्धं होरा द्वाकाणो द्रेष्काणो  
नंददिनकृद्भ्रागौ नवांशद्वादशांशौ एवं चत्वारो वर्गाः  
यस्य ग्रहस्य यद्गृहं तत्तस्यैव अयमेको गृहाख्यः । अथ  
त्रिंशांशा इति समराशौ सितादीनां पंचादयस्त्रिंशां-  
शाः स्युः । त्रिंशतः पूरणास्त्रिंशाः ते च ते अंशाश्च त्रि-  
शांशाः । तद्यथा । समराशौ आद्याः पंचभागाः शुक्र-  
स्य ततः सप्त बुधस्येत्यादि । ओजर्क्षेषु विपमराशिषु  
व्युत्क्रमात् भागानामधिपतीनां चातद्यथा आद्याः पंच  
भौमस्य ततः पंच शनेरित्यादि । इतीयं पङ्क्तिर्गिका स्यात् ।  
पण्णां वर्गाणां समाहारः पङ्क्तिर्गैव पङ्क्तिर्गिका ॥ १६ ॥

महोदये सायनमूर्यभोग्यं सपङ्क्तिभु-  
क्तं च युतं द्युमानम् ॥ इति स्मृतेयं  
शिशुबोधनाय श्रीकेशवार्कण वि-  
लग्नशुद्धिः ॥ १७ ॥

इति विवाहवृन्दावने लग्नशुद्धिः सप्त-  
दशोध्यायः ॥ १७ ॥

अथ ग्रहगणितोक्तमपि द्युमानानयनं सुगमोत्तया  
सायनसूर्यस्य यत्प्राग्यद्गोच्यं सायनसूर्यस्य सप्तदशस्य  
यच्च भुक्तं तत् मध्योदये तदन्तर्बर्तिषु मध्योदयेषु युक्तं  
द्युमानं स्यात्। अथालंकारः । इतीयं विलग्नस्य विवाह-  
लग्नस्य शुद्धिः शिशुबोधनाय बालावबोधाय श्रीकेश-  
वार्केण स्मृता संक्षिप्य कथिता ॥ १७ ॥

इति श्रीसंकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्मजग-  
णेशविरचिता केशवार्कोदितलग्नशुद्धेर्विवृतिः समाप्ता ।

समाप्तं विवाहवृन्दावनम् ।

पुस्तक मिलनेका ठिकाना—

ज्येष्ठाराम मुकुन्दजी, } { मिहिरचन्द लक्ष्मणदास,  
कार्लकादेवीरोड-मुंबई } { संस्कृतपुस्तकालय-लाहौर.